पढ़ें और सीखें योजना

मानव मशीन से परिचय

डा० ललित कुमार कोठारी

डा० श्रीगोपाल काबरा

विभागीय सहयोग

डा० राम दुलार शुक्ल

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

सितम्बर 1987
भाद्र 1909

P.D. 10T—AKS

प्रकाशन सहयोग

सम्पादन

प्रभाकर द्विवेदी : **मुख्य संपादक**
आशीष सिन्हा : **संपादक**

उत्पादन

सी० एन० राव : **मुख्य उत्पादन अधिकारी**
डी० साई प्रसाद : **उत्पादन अधिकारी**
चंद्र प्रकाश टंडन : **कला अधिकारी**
रतीराम : **उत्पादन सहायक**

मूल्य : रु. **10.25**

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली 110016 द्वारा प्रकाशित तथा कपूर आर्ट प्रेस, ए 38/3 मायापुरी इण्डस्ट्रियल एरिया, फेज 1, नई दिल्ली 110064 द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

विद्यालय शिक्षा के सभी स्तरों के लिए अच्छे शिक्षाक्रम, पाठ्यक्रमों और पाठ्यपुस्तकों के निर्माण की दिशा में हमारी परिषद् पिछले पच्चीस वर्षों से कार्य कर रही है। हमारे कार्य का प्रभाव भारत के सभी राज्यों और संघशासित प्रदेशों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा है और इस पर परिषद् के कार्यकर्ता संतोष का अनुभव कर सकते हैं।

किंतु हमने देखा है कि अच्छे पाठ्यक्रम और अच्छी पाठ्यपुस्तकों के बावजूद हमारे विद्यार्थियों की रुचि स्वतः पढ़ने की ओर अधिक नहीं बढ़ती। इसका एक मुख्य कारण अवश्य ही हमारी दूषित परीक्षा-प्रणाली है जिसमें पाठ्यपुस्तकों में दिए गए ज्ञान की ही परीक्षा ली जाती है। इस कारण बहुत ही कम विद्यालयों में कोर्स के बाहर की पुस्तकों को पढ़ने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है। लेकिन अतिरिक्त पठन में बच्चों की रुचि न होने का एक बड़ा कारण यह भी है कि विभिन्न आयुवर्ग के बालकों के लिए कम मूल्य की अच्छी पुस्तकें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध भी नहीं हैं। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों में इस कमी को पूरा करने के लिए कुछ काम प्रारंभ हुआ है पर वह बहुत ही नाकाफ़ी है।

इस दृष्टि से परिषद् ने बच्चों की पुस्तकों के लेखन की दिशा में एक महत्वाकांक्षी योजना प्रारंभ की है। इसके अंतर्गत 'पढ़ें और सीखें' शीर्षक से एक पुस्तकमाला तैयार करने का विचार है जिसमें विभिन्न आयुवर्ग के बच्चों के लिए सरल भाषा और रोचक शैली में अनेक विषयों पर बड़ी संख्या में पुस्तकें तैयार की जाएंगी। हम आशा करते हैं कि बहुत शीघ्र ही हिन्दी में हम आगे लिखे विषयों पर 50 पुस्तकें प्रकाशित कर सकेंगे।

क. शिशुओं के लिए पुस्तकें
ख. कथा साहित्य
ग. जीवनियाँ
घ. देश-विदेश परिचय
ङ. सांस्कृतिक विषय
च. वैज्ञानिक विषय
छ. सामाजिक विज्ञान के विषय

इन पुस्तकों के निर्माण में हम प्रसिद्ध लेखकों, वैज्ञानिकों, अनुभवी अध्यापकों और योग्य कलाकारों का सहयोग ले रहे हैं। प्रत्येक पुस्तक के प्रारूप पर भाषा, शैली और विषय-विवेचन की दृष्टि से सामूहिक विचार करके उसे अंतिम रूप दिया जाता है।

परिषद् इस माला की पुस्तकों को लागत-मूल्य पर ही प्रकाशित कर रही है, ताकि ये देश के हर कोने में पहुँच सकें। भविष्य में इन पुस्तकों को अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराने की भी योजना है।

हम आशा करते हैं कि शिक्षाक्रम, पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों के क्षेत्र में किए गए कार्य की भांति ही परिषद् की इस योजना का भी व्यापक स्वागत होगा।

प्रस्तुत पुस्तक **'मानव मशीन से परिचय'** के लेखन के लिए डा० ललित कुमार कोठारी एवं डा० श्री गोपाल काबरा ने हमारा निमंत्रण स्वीकार किया जिसके लिए हम उनके अत्यंत आभारी हैं। जिन-जिन विद्वानों, अध्यापकों और कलाकारों से इस पुस्तक को अंतिम रूप देने में हमें सहयोग मिला है उनके प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

हिन्दी में 'पढ़ें और सीखें' पुस्तक माला की यह योजना प्रो० अनिल विद्यालंकार के मार्गदर्शन में चल रही है। उनके सहयोगियों में श्रीमती संयुक्ता लूदरा, डा० रामजन्म शर्मा, डा० सुरेश पांडेय, डा० हीरालाल बाछोतिया और डा० अनिरुद्ध राय सक्रिय सहयोग दे रहे हैं।

इस योजना में विज्ञान की पुस्तकों के लेखन का मार्गदर्शन दिल्ली विश्वविद्यालय के भूतपुर्व कुलपति और राजस्थान विश्वविद्यालय में वर्तमान प्रोफेसर-एमेरिटस डा० रामचरण मेहरोत्रा कर रहे हैं। विज्ञान की पुस्तकों के लेखन के संयोजन और अंतिम संपादन आदि का दायित्व हमारे विज्ञान एवं गणित शिक्षा विभाग के प्रो० रामदुलार शुक्ल वहन कर रहे हैं।

मैं डा० रामचरण मेहरोत्रा को और अपने सभी सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद और बधाई देता हूँ।

इन पुस्तकों को इतने अच्छे ढंग से प्रकाशित करने के लिए मैं परिषद् के प्रकाशन विभाग के कार्यकर्ताओं, विशेषकर विभागाध्यक्ष श्री सी० एन० राव और मुख्य संपादक श्री प्रभाकर द्विवेदी को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

इस माला की पुस्तकों पर बच्चों, अध्यापकों और बच्चों के माता-पिता की प्रतिक्रिया का हम स्वागत करेंगे ताकि इन पुस्तकों को और भी उपयोगी बनाने में हमें सहयोग मिल सके।

पी० एल० मल्होत्रा
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली

दो शब्द

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्(एन० सी० ई० आर० टी०) की 'पढ़ें और सीखें' योजना के अन्तर्गत यह एक छोटा सा प्रयास है। जब परिषद् के प्रगतिशील निदेशक डा० पी० एल० मल्होत्रा ने मुझे इस दिशा में 'विज्ञान' के विषयों का कार्यभाल संभालने के लिए आमंत्रित किया तो अपने वैज्ञानिक मित्रों की अतिव्यस्तता के कारण यह उत्तरदायित्व स्वीकार करने में मुझे संकोच था।

इस दिशा में मेरा प्रयास रहा है कि विज्ञान के विभिन्न विषयों के जाने-माने विद्वानों को इस सराहनीय कार्य के लिए आकर्षित कर सकूं क्योंकि कारण है कि खोज और अनुसंधान की आनंदपूर्ण अनुभूतियों वाले वैज्ञानिक ही अपने 'आनंद' की एक झलक बच्चों तक पहुंचा सकते हैं। मैं उनका हृदय से आभारी हूं कि उन्होंने अंकुरित होने वाली पीढ़ी के लिए अपने बहुमूल्य समय में से कुछ क्षण निकालने के प्रयास किए। कहते तो हम सब है कि बालक राष्ट्र की सब से बहुमूल्य और महत्वपूर्ण निधि हैं, मेरे लिए यह किंचित आश्चर्य और अधिक संतोष का अनुभव रहा है कि हमारे इतने लब्धप्रतिष्ठ और अत्यंत व्यस्त वैज्ञानिक बच्चों के लिए परिश्रम करने के लिए सहर्ष मान गए हैं। मैं सभी वैज्ञानिक मित्रों के प्रति हृदय से आभारी हूँ।

इन पुस्तकों की तैयारी में हमारा मुख्य ध्येय रहा है कि विषय ऐसी शैली में प्रस्तुत किया जाए कि बच्चे स्वयं इसकी ओर आकर्षित हों, साथ ही भाषा इतनी सरल हो कि बच्चों को इनके अध्ययन द्वारा विज्ञान के गूढ़तम रहस्यों को समझने में कोई कठिनाई न हो। इन पुस्तकों के पढ़ने

से उनमें अधिक पढ़ने की रुचि पैदा हो, उनके नैसर्गिक कौतूहल में वृद्धि हो जिससे ऐसे कौतूहल और उसके समाधान के लिए स्वप्रयत्न उनके जीवन का एक अंग बन जाए।

यह योजना एन० सी० ई० आर० टी० के वर्तमान निदेशक डा० पी० एल० मल्होत्रा की प्रेरणा से प्रारंभ हुई है। मैं उन्हें इसके लिए बधाई और धन्यवाद देता हूँ।

डा० ललित कुमार कोठारी एवं डा० श्री गोपाल काबरा ने इस पुस्तक के लिखने के लिए मेरा अनुरोध स्वीकार किया जिसके लिए मैं हृदय से आभारी हूँ। परिषद् के विज्ञान एवं गणित शिक्षा विभाग के प्रो० रामदुलार शुक्ल विज्ञान की पुस्तकों के लेखन से संबंधित योजना के संयोजक हैं और बहुत परिश्रम और कुशलता से अपना कार्य कर रहे हैं। प्रो० अनिल विद्यालंकार 'पढ़े और सीखें' की संपूर्ण योजना के संचालक हैं। मैं इन दोनों को हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

आशा है कि ऐसी पुस्तकों से हमारी नई पीढ़ी के बाल्यकाल ही में वैज्ञानिक मानसिकता का शुभारंभ हो सकेगा और विज्ञान के नवीनतम ज्ञान के साथ ही साथ उन्हें अपने देश की प्रगति एवं वैज्ञानिकों के कार्य की झलक मिल सकेगी जिससे उनमें अपने राष्ट्र के प्रति गौरव की भावना का भी सृजन होगा।

रामचरण मेहरोत्रा
अध्यक्ष
'पढ़ें और सीखें योजना' (विज्ञान)

विषय-सूची

लेखक परिचय

डा० ललित कुमार कोठारी, (जन्म 1 जुलाई 1930)
एम.बी.बी.एस.; एम.डी.; एम.एस.सी. (मेडिसिन); एफ.ए.एम.एस.।
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, शरीर-क्रिया विज्ञान,
सवाई मान सिंह मेडिकल कालेज, जयपुर।
पिछले 30 वर्षों से चिकित्सा-विज्ञान में शोध व अध्यापन में कार्यरत।

डा० श्रीगोपाल काबरा, *(जन्म 25 दिसम्बर 1936)*
एम.बी.बी.एस.; एम.एस. (सर्जरी); एम.एस. (एनोटोमी);
एम.एस.सी. (मेडिसिन); डिप्लोमा इन जर्नलिज़्म।
डायरेक्टर रिसर्च, संतोकबा दुर्लभजी चिकित्सालय, जयपुर।
हिन्दी में चिकित्सा सम्बन्धी विषयों पर निरंतर लेखन के अलावा तीन कहानी संग्रह भी प्रकाशित।

1

मानव-मशीन से परिचय

एक विचित्र, रहस्यमय संसार हमारे चारों ओर फैला है। दूर ग्रहों और नीहारिकाओं तक विस्तृत यह ब्रह्मांड अपनी सुन्दरता से हमें रोमांचित करता है। हमारे शरीर के अन्दर छुपा संसार भी कुछ कम रहस्यमय नहीं है। हमने अपनी बुद्धि से अपने ही शरीर और जीवन के रहस्य को समझने का प्रयास किया है। यह एक रोचक कहानी है।

आज से लगभग 5 लाख वर्ष पहले आदि मानव ने सबसे पहले पत्थर के टुकड़ों को पैना करके औजारों की तरह काम लेना आरम्भ किया। नि:सन्देह हमारे विकासक्रम में यह एक बहुत महत्वपूर्ण घटना थी। कोई भी दूसरे प्राणी न तो औजार बना सकते हैं, और न उनका उपयोग ही कर सकते हैं। अतीत में निर्मित हमारे सरलतम औजारों ने तो आज धीरे-धीरे अति-उन्नत मशीनों का रूप ले लिया है। एक तरह से हमारी सभ्यता मशीनों के व्यापक उपयोग पर निर्भर है। हाथ पर इलेक्ट्रॉनिक घड़ी, घर में रेफ्रीजिरेटर और टेलीविज़न, खेतों में ट्रैक्टर और पम्प, आने-जाने के लिये रेल और वायुयान, ऑफिस में टेलीफोन और कंप्यूटर, स्कूलों में वैज्ञानिक प्रयोगशालाएं आदि इसके उदाहरण हैं। हर व्यक्ति आज मशीनों पर पूरी तरह आश्रित है।

दूसरी ओर जब हम स्वयं अपने शरीर को देखते हैं तो लगता है कि

यह तो एक पूर्णतया दूसरा ही संसार है—जीवित, रहस्यमय, अलौकिक। अपने शरीर के प्रति जिज्ञासा तो स्वाभाविक है पर इसे समझना उतना आसान नहीं है। कई सदियों तक जीवन प्रक्रियाओं का वर्णन करने में कुछ अनुमान और कुछ कल्पना का ही सहारा लिया गया। फिर 17वीं शताब्दी में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। फ्रांस में विख्यात दार्शनिक रेने डेकार्टे ने इस विषय में नये सिरे से सोचना आरम्भ किया। हमारा शरीर भी क्या एक प्रकार की मशीन नहीं है? क्या यह भी उन्हीं शाश्वत प्राकृतिक नियमों से नहीं बंधा है जिससे ब्रह्मांड की और सब जड़ वस्तुएं बंधी हैं? अपने चिंतन से वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भौतिक विज्ञान और रसायन शास्त्र के प्रायोगिक तरीकों की सहायता से हम शरीर की वास्तविक रचना और कार्य प्रणाली को भी अवश्य समझ सकते हैं। यह तो डेकार्टे भी जानते थे कि हमारा शरीर कोई जड़ मशीन नहीं है। परन्तु मशीनों से हम भली-भांति परिचित हैं, उन्हें हम स्वयं बनाते हैं, इसलिये शरीर को भी थोड़े समय के लिये एक मशीन मान लें तो उसका अध्ययन आसान हो जायेगा। इसी आधार पर हम कई महत्वपूर्ण प्रश्नों को हल करने का प्रयास भी कर सकते हैं :

- क्या हमारा मस्तिष्क एक कंप्यूटर है?
- क्या भविष्य के सुपर-सुपर कंप्यूटर में हमारी तरह बुद्धि और चेतना होगी? क्या वे भी सुख-दुख का अनुभव कर सकेंगे? वे दूसरे कंप्यूटर के प्रति स्नेह या ईर्ष्या दर्शाएंगे?
- क्या मस्तिष्क पर ऑपरेशन करके हमारे व्यवहार को बदला जा सकता है?
- अगर हृदय केवल एक पम्प है, तो क्या हमारे बीमार हृदय के स्थान पर कृत्रिम उपकरण लगाकर हम सामान्य जीवन बिता सकेंगे?

- हम बुद्धि में जब सब प्राणियों से बड़े हैं, तो आकार में भी हाथी या व्हेल जैसे क्यों नहीं हैं?
- क्या ब्रह्मांड में हम अकेले हैं अथवा भविष्य में किसी सुदूर ग्रह से आए प्राणी हमें विकास की नई दिशा दिखाएंगे?

जीवन के अनन्त रहस्य को हम शायद पूरी तरह कभी न समझ पाएं, पर हमें प्रयत्न तो करते जाना है। शायद एक दिन आप ही ऐसे प्रश्नों का कोई उत्तर ढूंढ़ सकें। तो आइये, पहले इस अद्भुत जीवित-मशीन के बारे में कुछ पढ़ें और सीखें।

□□

2

आकार का गणित : चूहे से व्हेल तक

हमारी पृथ्वी न जाने कितने विचित्र पशु-पक्षियों का एक अनोखा संग्रहालय है। एक तरफ वायरस, कीटाणु, अमीबा जैसे जीव हैं जिन्हें हम आंखों से देख भी नहीं सकते, तो दूसरी ओर विशालकाय हाथी, व्हेल आदि हैं। हम स्वयं करीबन बीच में आते हैं। अगर केवल सबसे उच्च, विकसित प्राणियों की ही बात करें, जिन्हें हम मैमल्स या स्तनधारी कहते हैं और जो अण्डे न देकर बच्चे को जन्म देते हैं तथा उसे दूध पिलाकर बड़ा करते हैं, तो भी आकार में बहुत बड़ा अन्तर देखने को मिलता है। सबसे छोटे मैमल्स का वजन केवल 5 ग्राम होता है (कुछ क़िस्म के चूहे) जबकि सबसे विशाल मैमल, व्हेल का वजन 130,000 किलोग्राम से भी अधिक है। सौभाग्य से हम न तो चूहों की तरह छोटे हैं और न व्हेल की तरह भीमकाय। दोनों छोर पर बड़ी कठिनाइयाँ हैं, और हमारा 60-70 किलोग्राम का शरीर कई दृष्टियों से बहुत ही उपयुक्त है।

व्हेल का शरीर इतना विशाल है कि वह जमीन पर आते ही अपने ही भार से दबकर पिचक जाती है। सांस लेने के लिए अपनी छाती को फुला ही नहीं पाती और मर जाती है। उसकी मांसपेशियाँ कितनी भी शक्तिशाली हों, वह इतने वजन को हिलाने-डुलाने में असमर्थ हैं।

सिवाय इसके कि वह हमेशा पानी के अन्दर ही रहे इस विशाल जीव के लिये और कोई चारा ही नहीं है। पानी के उछाल के कारण व्हेल का वजन बहुत हल्का प्रतीत होने लगता है। वास्तव में व्हेल के शरीर का आपेक्षिक घनत्व पानी से थोड़ा ही अधिक होता है। इसलिये आर्कमीडिज़ सिद्धान्त के अनुसार व्हेल आराम से तैरती रहती है, और उसका 130 टन का भार उसके लिए कोई भार नहीं है। स्पष्ट है कि अगर हमें पानी से बाहर ज़मीन पर रहना है तो हमारा शरीर अधिक विशाल नहीं होना चाहिये। वरना हम पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण या अपने भार से ही दब जायेंगे। हाथी शायद पानी से पूर्णतया बाहर रहने वाले जीवों की भार-सीमा के काफी पास पहुंच गया है, इसीलिये उसमें न तो स्फूर्ति है न दक्षता।

दूसरी ओर बहुत छोटे शरीर की भी अपनी कठिनाइयाँ हैं; केवल इसलिये नहीं कि छोटा होने पर हम दूसरे जीवों पर रौब नहीं जमा सकते, बल्कि एक बहुत रोचक और शाश्वत भौतिक नियम के कारण। किसी भी ठोस वस्तु के आयतन या भार और उसकी सतह के क्षेत्रफल के बीच एक निश्चित सम्बन्ध है। वस्तु जितनी छोटी होगी उसके भार के अनुपात में उसकी सतह उतनी ही अधिक होगी। इसका कारण यह है कि किसी भी गोल वस्तु के आयतन का मान $\frac{4}{3} \pi r^3$ होता है, जबकि उसकी सतह का क्षेत्रफल $4 \pi r^2$। इसके महत्व को समझने के लिये हम एक सरल सा उदाहरण लें।

एक साधारण क्रिकेट-गेंद की चौड़ाई क़रीबन 7.5 से.मी. होती है। गेंद को अगर दुगुना, यानि 15 से.मी. कर दिया जाए तो गेंद का भार एकदम 8 गुना बढ़ जायेगा। अच्छे से अच्छा बॉलर 150 ग्राम के स्थान पर इस 1.2 किलोग्राम की गेंद को नहीं फेंक पाएंगे। इस नई गेंद की सतह साधारण गेंद से केवल 4 गुना ही अधिक होगी। भार और सतह के

इस बदले हुए अनुपात के कारण नई गेंद न सिर्फ बड़ी होगी, परन्तु उसके "स्विंग" और "स्पिन" होने के गुण भी बिलकुल बदल जाऐंगे।

अब इसी नियम को जीवों पर लगाएं तो हम देख सकते हैं कि चूहे और हाथी में केवल यही अन्तर नहीं है कि चूहा बहुत छोटा और हाथी बहुत बड़ा है। अगर एक चूहा और एक हाथी अपना शरीर ढंकने के लिए सूट सिलवाएं तो बेचारे चूहे को अपने भार के अनुपात में हाथी से कहीं अधिक कपड़ा खरीदना पड़ेगा। भार और सतह के इस असाधारण गणित का जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। कारण यह है कि हमें अपने शरीर का तापमान 37° सेलसियस या 98.4° फारेनहाइट पर स्थिर रखना है जबकि हमारी सतह से गर्मी बराबर बाहर फैलती जा रही है। सभी विकसित जीवों के लिये यह आवश्यक है कि बाहर का तापमान चाहे कुछ भी हो, उनके शरीर के अन्दर का तापमान स्थिर रहे, ताकि सब क्रियाएँ सुचारू रूप से चलती रहें। अब स्पष्ट है कि जितनी विस्तृत हमारी सतह होगी उतनी ही तेजी से गर्मी बाहर निकलेगी, और
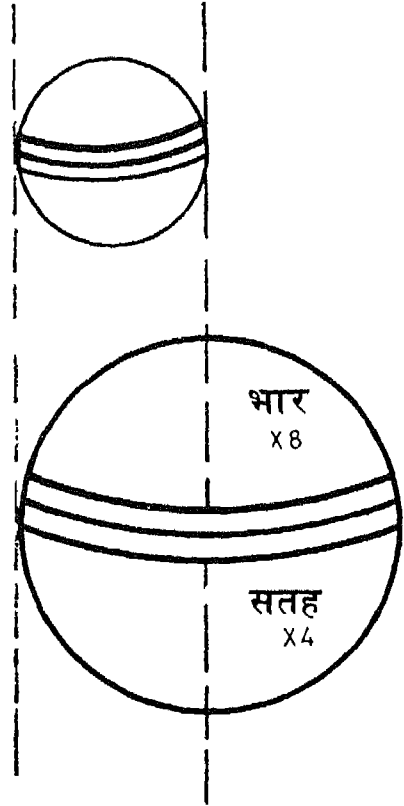
चित्र 1

हमारा शरीर ठण्डा होने लगेगा। इसीलिये हम देखते हैं कि कई मशीनों को ठंडा रखने के लिये उनकी सतह को लोहे की प्लेटें लगाकर बढ़ा दिया जाता है। इसका उदाहरण हमारे आसपास ही मिल जायेगा। स्कूटर का इंजन, कार का रेडियेटर, रेफ्रीजरेटर के पीछे की जाली, इत्यादि।

निष्कर्ष यह निकला कि किसी जीव की सतह जितनी अधिक होगी उतनी ही तेज़ी से उसमें से गर्मी का ह्रास होगा। अपना तापमान स्थिर रखने के लिये उसे उतनी ही तेज़ी से अपने अन्दर गर्मी उत्पन्न करनी पड़ेगी। अब हम समझ सकते हैं कि छोटा होने में क्या हानि है। अपने शरीर के प्रति किलोग्राम वजन के हिसाब से एक दिन में चूहे को अपने
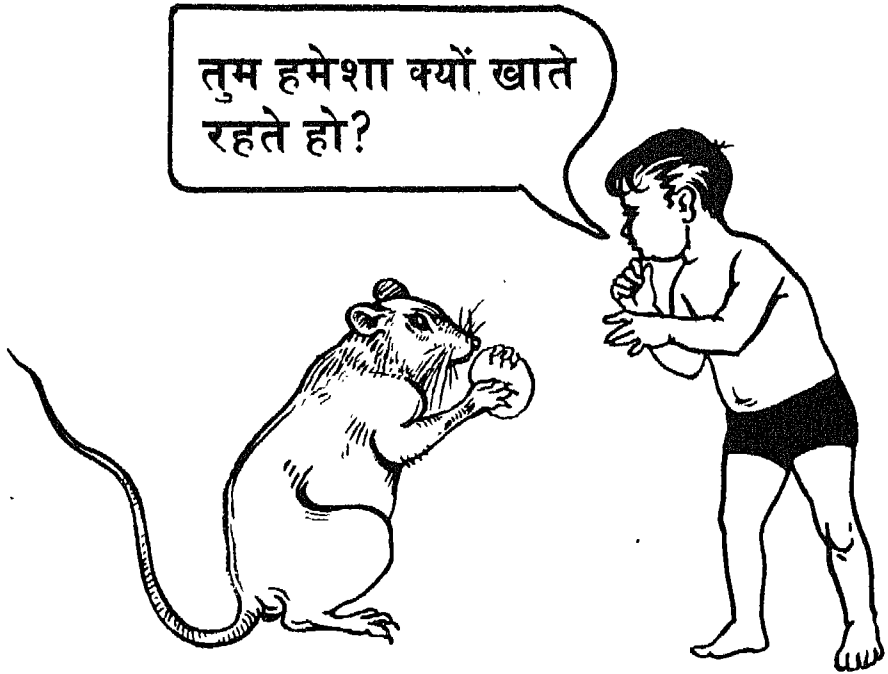
चित्र 2

अन्दर 250 केलोरी ऊर्जा उत्पन्न करनी पड़ती है, जबकि एक विशालकाय हाथी को केवल 12 केलोरी। चूहे को इतनी अधिक ऊर्जा चाहिए तो इसके लिए ईंधन जुटाने में ही उसका अधिकांश समय निकल जाता है। आखिर शरीर की रासायनिक भट्टी को बराबर भोजन रूपी ईंधन मिलेगा तभी तो वह इतनी ऊर्जा दे सकेगी। इसलिये चूहा सारे दिन में अपने वजन के 1/2 भार जितना भोजन खा जाता है। इस अनुपात में तो एक साधारण मनुष्य को करीबन 30 किलो भोजन रोज़ खाना पड़ेगा। सौभाग्य से हमारा शरीर चूहे जैसा छोटा नहीं है, और हम अपने भार का केवल 1/50 भाग भोजन के रूप में लेकर काम चला लेते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा आकार और वजन प्रकृति के नियमों के अनुसार बहुत ही उपयुक्त है। अत्यधिक विशाल होनेपर हमें पानी में ही डूबे रहना पड़ता या हम अपने ही भार से दबकर बहुत कम हिलडुल सकते। दूसरी ओर बहुत छोटा होनेपर हमारी ऊर्जा की आवश्यकता इतनी अधिक होती कि सारा दिन भोजन ढूंढ़ने और खाने में ही बीत जाता। शायद इसीलिये भीमकाय दैत्य और लिलिपुट जैसे बौने, दोनों, केवल बच्चों की कहानियों में ही पाए जाते हैं।

इन्हीं तथ्यों पर हम थोड़ा और गौर करें तो कई दिलचस्प बातें सामने आयेंगी। हम अपना जीवन रेत के एक कण के समान छोटी सी कोशिका के रूप में आरम्भ करते हैं। जन्म के समय हमारा भार सामान्यतः 2.5 से 3.0 किलोग्राम होता है और वयस्क होने पर 50 से 80 किलोग्राम। बार-बार विभाजित होकर एक कोशिका ने 10 लाख करोड़ (10^{13}) कोशिकाओं का यह अद्भुत समूह बना दिया है। वज़न और सतह के गणित को अब एक छोटे बालक और एक वयस्क के शरीर पर आज़माइये। अपने भार कें अनुपात में किसे अधिक भोजन चाहिये? आक्सीजन चाहिये? क़िसमें हृदय की धड़कन अधिक तीव्र होगी?

ठोस धरातल पर दौड़ने कूदने के लिये यह आवश्यक है कि हमारे शरीर का एक मज़बूत आधार हो। ऐसा आधार जो आवश्यकतानुसार मुड़ तो सके पर हमारे भार से दबकर झुके नहीं। यह काम हमारा अस्थिपंजर (स्केलेटन) करता है। हड्डियों की मजबूती अस्थि में उपस्थित चूना या कैल्शियम के कारण है। एक वयस्क व्यक्ति के शरीर में करीबन 1.5 किलोग्राम तक कैल्शियम होता है और इसका 99 प्रतिशत भाग केवल हड्डियाँ हैं। इससे शरीर के लिये कैल्शियम की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है। भोजन में कैल्शियम का सबसे अच्छा श्रोत दूध, अंडा और हरी सब्ज़ियाँ हैं।

एक दिलचस्प बात यह भी है कि अगर ध्यान से देखें तो हमारे भार उठाने वाले अस्थिपंजर और गाड़ियों का भार उठाने वाले पुलों की रचना में कई समानताएँ हैं। प्रकृति की इंजीनियरी और मनुष्य की इंजीनियरी दोनों एक जैसे भौतिक नियमों से बंधी प्रतीत होती हैं। किसी पुल का गार्डर इतना ठोस या भारी नहीं होना चाहिये कि स्वयं अपने ही बोझ से झुक जाए। पर, दूसरी ओर, इतना हल्का-फुल्का भी न हो कि उसके ऊपर से कोई गाड़ी ही न जा सके। आधुनिक इंजीनियरों ने इसका आसान हल निकाल लिया है। वह गार्डर के उन भागों को तो खूब मजबूत कर देते हैं जिनपर भार से खिंचाव पड़ेगा, और बाकी भाग को
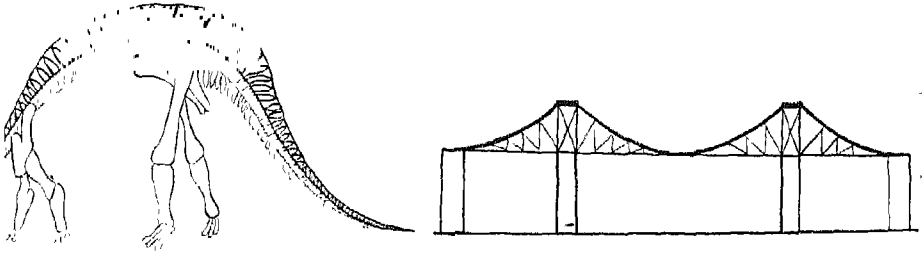
चित्र 3 और 4 : विशालकाय डायनोसोरस का भार उठाने के लिये उसके अस्थि-पंजर की रचना और एक केन्टीलीवर पुल के बीच समानता।
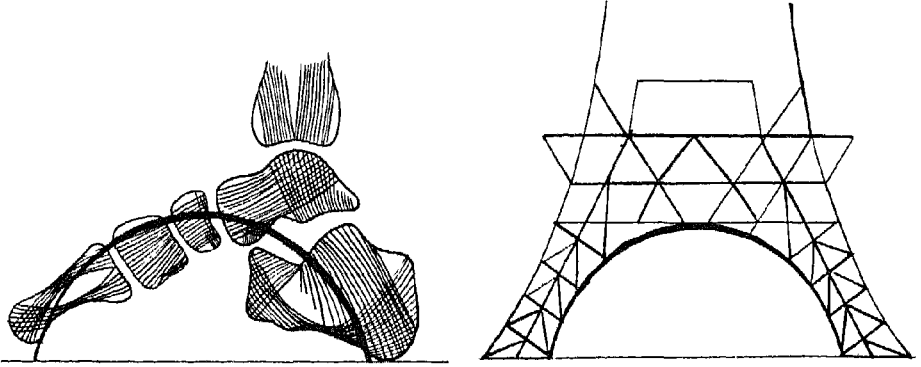
चित्र 5 और 6 : मनुष्य को चाहे 50 किलोग्राम का भार उठाना हो अथवा 3000 टन के ईफल टावर का; दोनों के 'पैरों' की रचना में कितनी समानता है!

एकदम हल्का या खोखला। आश्चर्य है कि प्रकृति ने भी हमारी हड्डियों को ठोस संगमरमर के खम्भों जैसा नहीं बनाया है, परन्तु उन्हें पोला करके केवल भार-रेखाओं को मज़बूत कर दिया है। अगर हम ऊपर दिए गए चित्रों को देखें तो प्रकृति और मनुष्य की रचनाओं में अद्‌भुत समानता नज़र आएगी।

पशु-पक्षियों, सीपों, शंखों से लेकर मनुष्य और पेड़ पौधों तक के आकार का एक गहन वैज्ञानिक अध्ययन इस शताब्दी के आरम्भ में सर डार्सी थॉम्पसन ने किया था। उनके जीवन भर के चिंतन और परिश्रम पर आधारित पुस्तक "ऑन ग्रोथ एण्ड फॉर्म" न केवल ज्ञान का भंडार है, बल्कि अपनी अत्यन्त सरस और सुन्दर भाषा के कारण उसे जीव-विज्ञान का एक महाकाव्य कहना अतिशयोक्ति न होगा।

अपने आकार से आश्वस्त होकर अब हम यह देखें कि आखिर हमारे शरीर की रचना में वह कौन सी विशेषताएँ हैं जिन्होंने हमें सभी

दूसरे प्राणियों से इतना ऊपर उठा दिया है। इतना ऊपर कि पृथ्वी पर विचरते दूसरे प्राणियों से अपने निकट सम्बन्ध को हम कई बार भूल ही जाते हैं।

सबसे पहले तो हमारा ध्यान मस्तिष्क की ओर जाता है, जिसकी कार्यकुशलता वास्तव में अद्भुत है। निःसन्देह हमारा मस्तिष्क सब प्राणियों से अधिक विकसित है। परन्तु इसका विश्लेषण हम अलग से करेंगे। अभी तो शारीरिक रचना की दृष्टि से ही देखें। हमारे शरीर में 3 ऐसी प्रत्यक्ष विशेषताएँ हैं जिन्हें हम एकदम मौलिक या मानवीय कह सकते हैं। दूसरे प्राणियों में ये या तो हैं ही नहीं या बहुत कम विकसित हैं। सबसे प्रथम तो है हमारा दो पैरों पर खड़ा होना। इससे दोनों हाथ एकदम ख़ाली हो गए, और इनसे आदिमानव ने हर प्रकार के रचनात्मक काम करना प्रारम्भ किया। एक तरह से साधारण पशुओं के अगले पैर हमारे "हाथ" बन गए।

चित्र 7

यह हमारे लिये कम महत्व की बात नहीं कि सबसे प्राचीन दो पैरों पर खड़े रहने वाले मानव-जैसे प्राणी के अवशेष भारत में ही हिमालय की शिवालिक पर्वत श्रृंखला में मिले हैं। इसीलिये इस प्राणी का नाम "रामापिथेक्स" रखा गया है (पिथेक्स = वानर)। अनुमान है कि रामापिथेक्स हिमालय की तराइयों में आज से
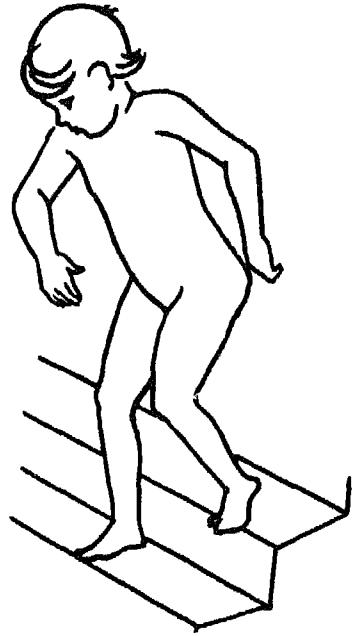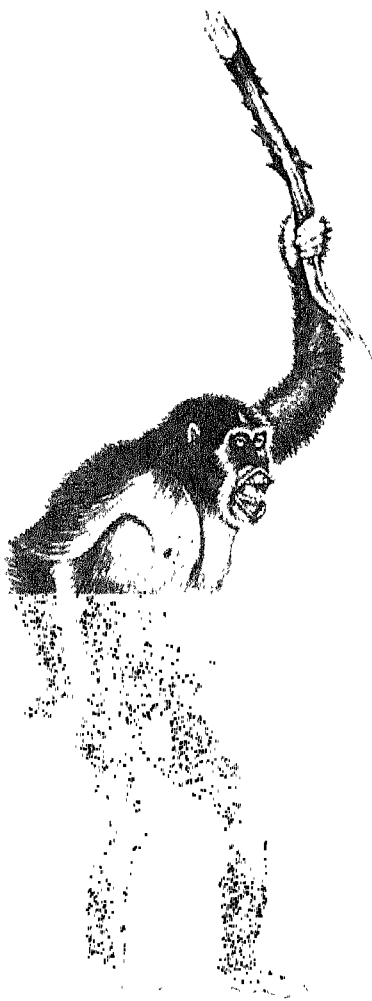
चित्र 8 : रामपिथेक्स

करीबन 1.5 करोड़ वर्ष पहले रहते थे। यह प्राणी और अफ्रीका में पाए जाने वाले इसी तरह के प्राणी आगे चलकर, आज से करीब 5 लाख वर्ष पूर्व सबसे प्राचीन मानव "होमो इरेक्टस" के रूप में विकसित हुए। महत्वपूर्ण बात यह है कि विकास के इस क्रम में मनुष्य की अलग पहचान हम उस समय से ही कर रहे हैं जब से वह दो पैरों पर खड़ा होकर अपने हाथों से तरह-तरह के काम करने लगा।

दो पैरों पर खड़े होने के लाभ तो स्पष्ट हैं, पर इसके लिये हमें कुछ कीमत भी चुकानी पड़ी है। शरीर का सारा भार अब रीढ़ की हड्डी से होते हुए दो पैरों को ही वहन करना पड़ता है। इसके लिये हमारी रीढ़ की हड्डी (वरट्रीब्रल कॉलम) का स्थिर और मज़बूत होना आवश्यक है। हम झुककर पृथ्वी पर पड़ी चीज़ों को उठा सकें, पीछे व दाहिने-बाएं मुड़ सकें, इसके लिये लचीलापन भी चाहिये। हमारी पीठ एक पत्थर के अडिग खम्भे की तरह नहीं हो सकती। अब इन दोनों

परस्पर विरोधी आवश्यकताओं से मनुष्य को समझौता करना पड़ा है। भार वहन करने के लिये मज़बूती और झुकने के लिये लचीलापन। इन दोनों के बीच असंतुलन हो जाने पर हमें पीठ, कमर या गर्दन में दर्द होने लगता है। यह हमारे पूर्वजों की देन है जिन्होंने पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के विरुद्ध सीधे दो पैरा पर खड़ा होना शुरू किया।

रचना की दृष्टि से दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन है हमारा अंगूठा, जो मुड़कर सभी अंगुलियों को छू सकता है। साधारण सी लगने वाली यह बात कितनी उपयोगी है इसका हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। अंगूठे को अलग रखकर केवल चारों अंगुलियों से कोई काम करने का
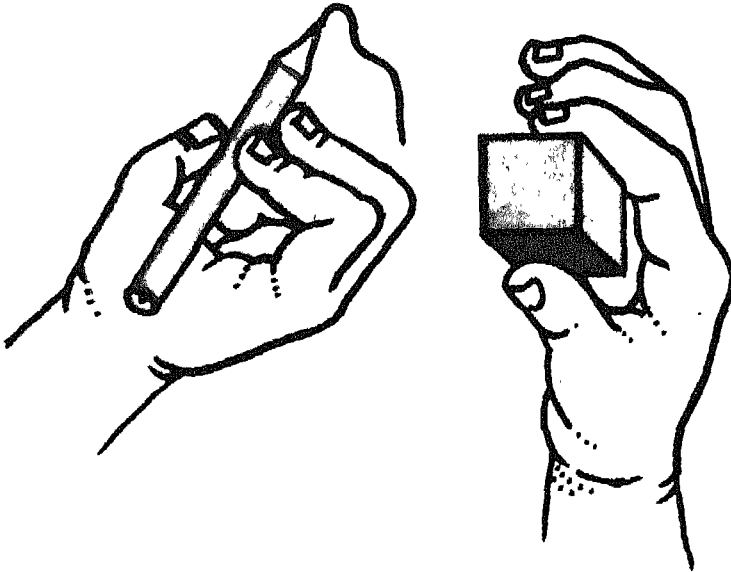
चित्र 9

प्रयास कीजिये। चारों अंगुलियाँ एक तरफ और अकेला अंगूठा दूसरी तरफ! दोनों के बीच चीज़ों को पकड़कर ही हम अपने सब काम करते हैं, चाहे वह चीज़ क्रिकेट की गेंद हो या रोटी का निवाला, लिखने की कलम हो या कोई लोहे का औज़ार। हाथ में चोट लग जाने पर तभी डाक्टर अंगूठे को ही बचाने का सबसे अधिक प्रयास करतें हैं। अब जरा अपने आसपास के पशु-पक्षियों के पंजे देखिये। जिस हस्त-कौशल पर हम इतना गर्व अनुभव करते हैं क्या वह हमारे अंगूठे का ही कमाल नहीं?

हमारी तीसरी शारीरिक विशेषता है दोनों आंखों का चेहरे पर सामने होना। इससे हमारी दृष्टि बहुत पैनी हो गई है। हर वस्तु को हम एक साथ दोनों आंखों से देख रहे हैं, और इससे हमें गहराई और दूरी का
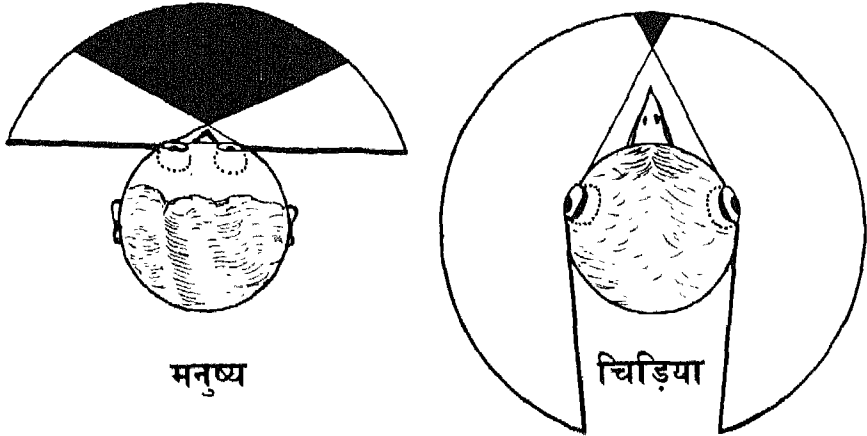
चित्र 10 : चिड़िया की आंखों की तुलना में हमारी दोनों आंखें चेहरे पर सामने स्थित होने से हममें और चिड़िया की दृष्टि-शक्ति में क्या अन्तर पड़ा है? ''बायनो- क्यूलर दृष्टि'' का क्षेत्र काला दिखाया गया है।

बहुत अच्छा आभास होता है। इसकी आवश्यकता शायद सबसे पहले बन्दरों को महसूस हुई होगी। पेड़पर एक डाल से दूसरी डालपर कूदते समय यदि दूरी का सही अनुमान न लगा तो सीधे धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ेंगे! इसीलिये मनुष्य व उसके निकटतम सम्बन्धी इन बन्दरों की दोनों आंखें बिलकुल सामने चेहरे पर हैं। सिर की मध्य-रेखा के एकदम समानान्तर। अगर आंख के अक्ष और सिर की मध्य-रेखा के बीच का कोण नापें तो वह घोड़े में 40 डिग्री, कुत्ते में 20 डिग्री और बिल्ली में 8 डिग्री है, जबकि मनुष्य और बन्दर में 0 डिग्री। इसके परिणामस्वरूप हमारी दृष्टि ''बायनोक्युलर'' (दोनों आंखों से एक ही वस्तु देखना) तथा ''स्टीयरोस्कोपिक'' (ठोस या थ्री-डाइमेंशनल) हो गई है। हमारे लिए सारा संसार एक कागज पर बनी सपाट तस्वीर नहीं है। हमें हर वस्तु की स्थिति, दूरी, आकार और गहराई का सुन्दर आभास हो रहा है। बिना इस वरदान के शायद हम न तो प्रकृति का इतना सूक्ष्म अध्ययन कर पाते, और न कोई आविष्कार या निर्माण। आदिमानव ने जब पत्थर की पैनी धार से चीजों को काटना सीखा या नुकीली लकड़ी को निशाना साधकर भाले की तरह फेंकना आरम्भ किया, तो निःसन्देह उसकी सफलता का बहुत बड़ा श्रेय इस पैनी दृष्टि को ही था।

हर मूल्यवान वस्तु की तरह इस दृष्टि को प्राप्त करने के लिए भी हमें कुछ त्याग करना पड़ा है। जिन प्राणियों में आंखें सिर के दोनों ओर होती हैं, वे बिना सिर हिलाये हर समय अपने चारों ओर चौकसी रख सकते हैं। क्षितिज के 380 डिग्री विस्तार का करीबन सम्पूर्ण भाग हर समय उनकी दृष्टि-सीमा के अन्दर है। इसीलिये बहुत प्रयत्न करने पर भी बच्चे पीछे से जाकर किसी चिड़िया को नहीं पकड़ पाते। आखिरी क्षण पर चिड़िया फौरन उड़ जाती है। बिना अपनी गर्दन घुमाए ही वह पास आते बच्चे को देख रही है। परन्तु हमारी दोनों आँखें बिलकुल सामने होने के कारण हम अपने पीछे 180 डिग्री का विस्तृत क्षेत्र

बिलकुल नहीं देख पाते। हर समय आधी परिधि हमारी आंखों से ओझल रहती है।

अध्यापक इस असुविधा का फौरन अनुमान लगा सकते हैं। ज्योंही बोर्ड पर लिखने को मुड़े कि सारी क्लास आंखों से ओझल!

इस प्रकार 3 छोटे-छोटे शारीरिक परिवर्त्तनों ने हमें अद्‌भुत कार्यकुशलता प्रदान की है। यह है सीधे दो पैरों पर खड़ा होना, हाथ के अंगूठे से अंगुलियों को छू पाना, तथा बायनोक्यूलर दृष्टि। इनका अपनी तीव्र बुद्धि से सही उपयोग करके हमने सभी दूसरे जीवों को बहुत पीछे छोड़ दिया है और पृथ्वी पर इस अनूठी और निरन्तर विकासशील सभ्यता का निर्माण किया है।

□□

3

कोशिका या विलक्षण फैक्टरी

हमारे शरीर के निर्माण की इकाई है कोशिका। एक-एक कर अरबों कोशिकाओं के सुनिश्चित और सुनियोजित संकलन से बना है हमारा शरीर। कोशिका का सबसे पहले वर्णन 1665 में इंग्लैंड के राबर्ट हुक ने किया था। उन्होंने अपने बहुत ही सरल माइक्रोस्कोप से कॉर्क में इन कोशिकाओं को देखा और इन्हें ''सेल'' का नाम दिया।

यह अनुमान लगाया गया है कि एक वयस्क मनुष्य के शरीर में करीबन 10^{15} कोशिकाएं होती हैं। चाहे हमारा मस्तिष्क हो या हृदय, मांसपेशियाँ हों या त्वचा, हड्डियाँ हों या आँखें, सभी इन कोशिकाओं से ही बनी हैं। वैसे हमारा जीवन एक कोशिका से ही आरम्भ होता है। हां, अलग-अलग स्थानों की कोशिकाओं की संरचना और कार्यों में कुछ विशेष परिवर्तन अवश्य होंगे, तो आइये शरीर की रचना को समझने से पहले इस कोशिका को अच्छी तरह से देखें और समझें।

कोशिका मकान की ईंट की तरह एक निश्चित आकार की भौतिक इकाई मात्र नहीं है। प्रत्येक कोशिका वास्तव में एक आधुनिक कारख़ाना है, जिसमें सैकड़ों रासायनिक और भौतिक प्रक्रियायें अनवरत चलती रहती हैं। किसी आधुनिक कारख़ाने में प्रवेशकर हम चकाचौंध से रह
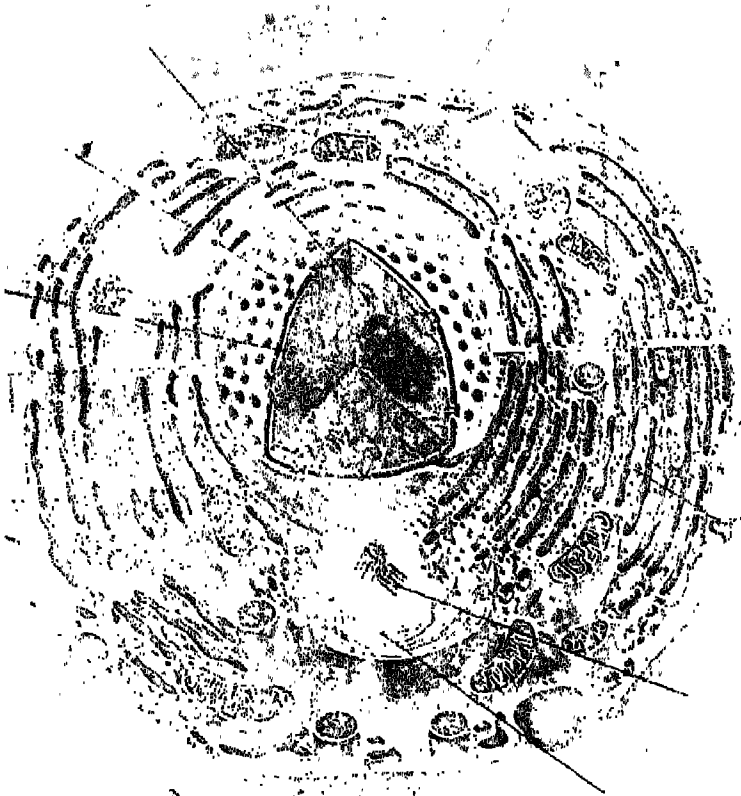
चित्र 11 : कोशिका की आन्तरिक संरचना

जाते हैं। गेट पर खड़ा पहरेदार हर वस्तु के प्रवेश और बहिर्गमन पर कड़ी नजर रखता है। एक कंप्यूटर युक्त दफ्तर हर प्रकार की सूचना और तथ्यों के आधार पर सारी फैक्टरी का संचालन करता है। वहां हर निर्मित होने वाली वस्तु के ब्लू प्रिंट रहते हैं। एक पावर हाऊस ऊर्जा सप्लाई करता है। स्टोर आवश्यक वस्तुओं को रखता है। पैकिंग प्लांट निर्मित वस्तुओं को डिब्बों में रखता जाता है। संचार व्यवस्था और निर्माण कर रही सैकड़ों मशीनें समन्वित रूप से अनवरत निर्माण में जुटी रहती हैं।

कारख़ाना इतना बड़ा होता है कि इस प्रकार की सभी व्यवस्थाओं की कल्पना की जा सकती है और इन्हें समझा जा सकता है। प्रश्न है एक नन्हीं सी कोशिका में, जो इतनी छोटी हो कि एक घन मिलीमीटर में लगभग एक लाख समा जाएं, क्या इस प्रकार की व्यवस्था की कल्पना की जा सकती है?

आप किसी प्रकार अति सूक्ष्म होकर अगर किसी कोशिका में प्रवेश करें तो आपको इसकी आंतरिक संरचना और व्यवस्था किसी आधुनिक कारख़ाने से भी कहीं अधिक आश्चर्यजनक और अनोखी लगेगी। शायद कोशिका में प्रवेश करने पर वायरस या जीवाणु को ऐसा ही लगता होगा जैसा हमें एक बड़े कारखाने में प्रवेश करने पर। क्या आपने इस रोमांचकारी कल्पना पर आधारित किसी फिल्म या कहानी के बारे में सुना है? ''दी फेन्टेस्टिक वॉयेज'' या जॉर्ज गेमो की पुस्तक ''मि० टोम्पकिन्स इनसाइड हिमसेल्फ'' या डॉ० श्री गोपाल काबरा की लिखी ''शरीर की सैर'', जैसी पुस्तकें इन्हीं तथ्यों को उजागर करती हैं। प्रत्येक कोशिका में सुनिश्चित कार्य विभाजन है और हर कार्य के निमित्त आवश्यक उपकरण।

केन्द्रक या न्यूक्लियस दफ्तर के मैनेजर का कार्य करता है। यहाँ हर निर्माण होने वाली वस्तु का ब्लू प्रिंट डी० एन० ए० नामक प्रोटीन
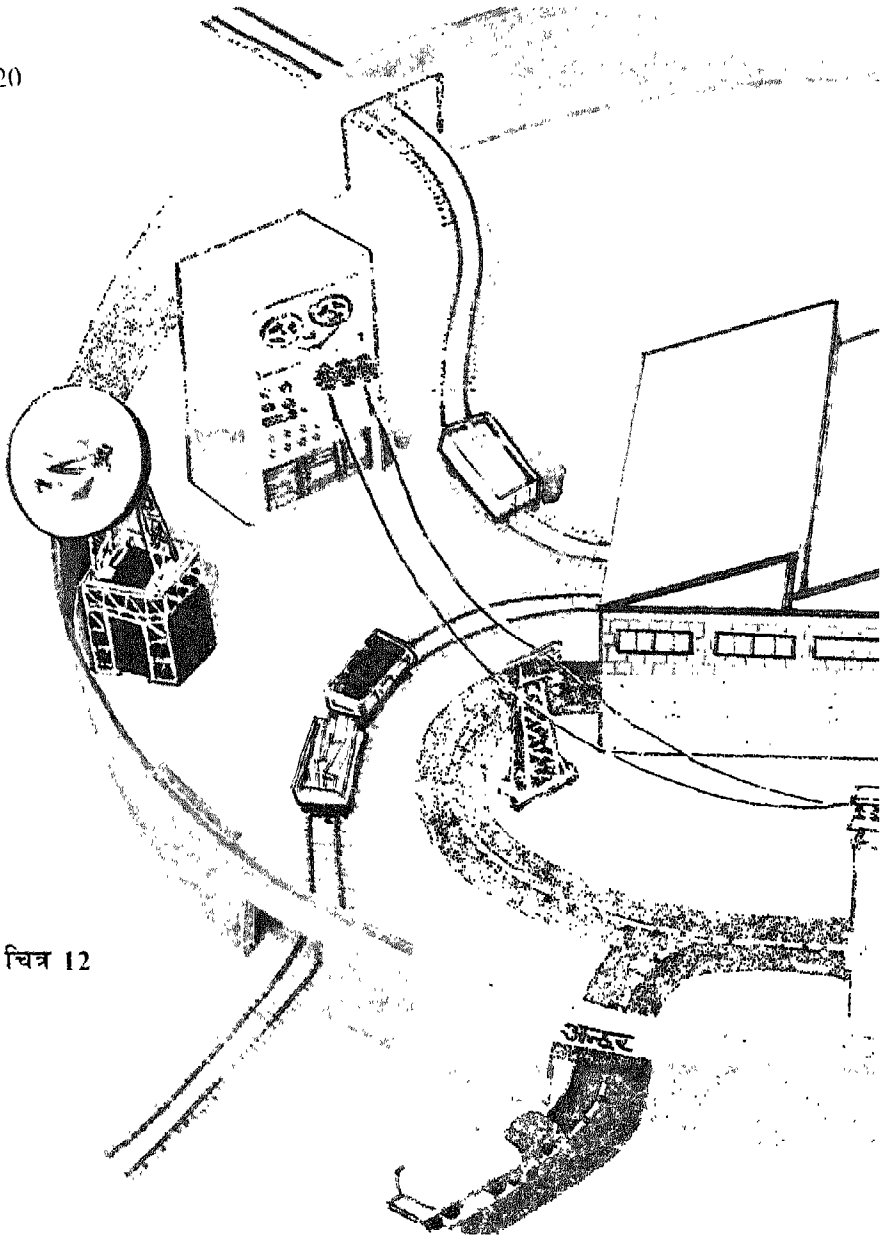
चित्र 12
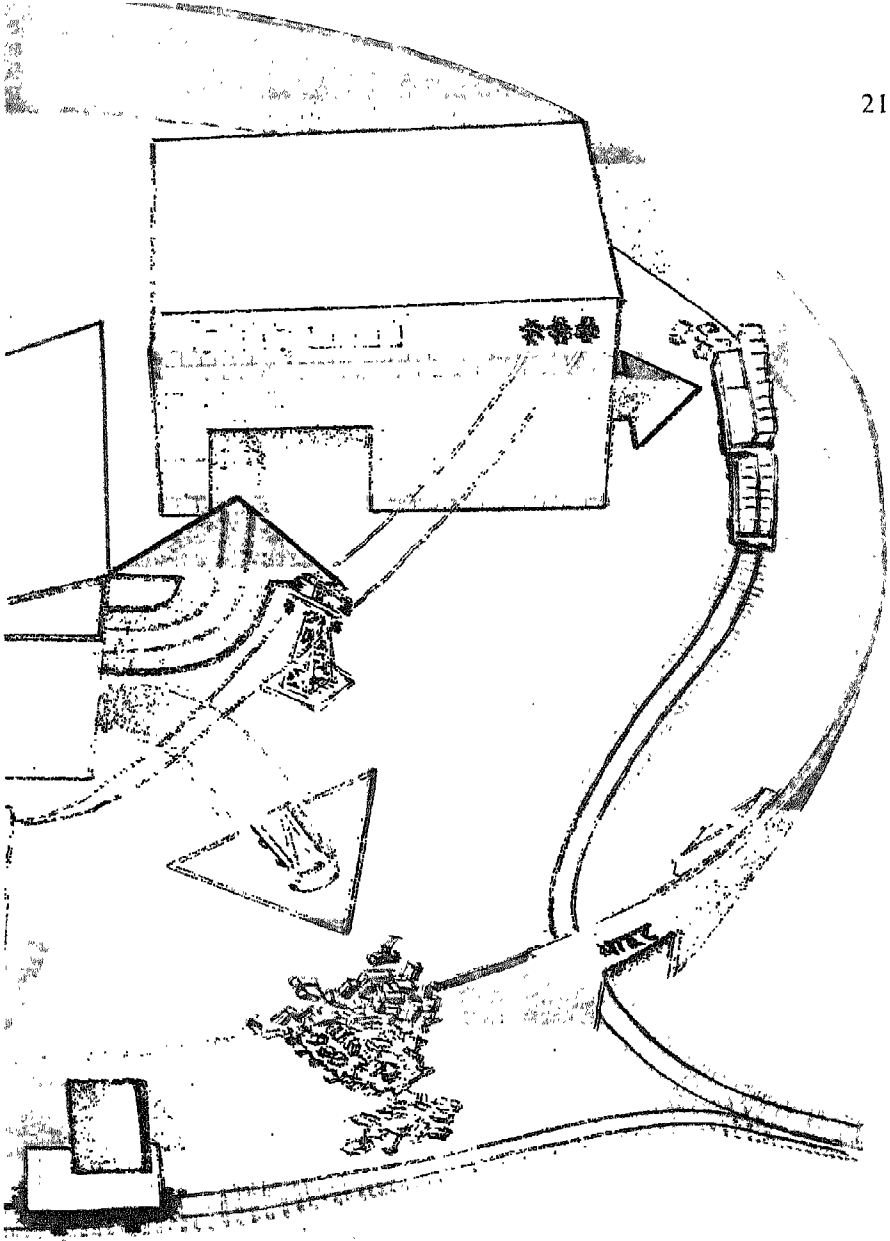
चित्र 12 : कोशिका की एक फैक्ट्री के रूप में कल्पना। इसका अवलोकन करने के लिए हम 'अन्दर' द्वार से प्रवेश करते हैं। सामने, दाहिनी ओर, कोशिका के कई 'पावर हाउस' में से एक है (माईटोकोन्ड्रीया)। इसमें रासाय-निक विधि से ऊर्जा (ए.टी.पी.) उत्पन्न करके सब जगह पहुंचाई जाती है। पीछे बड़े शैड में सारी मशीनें (एन्ज़ाईम) लगी हैं—एन्डोप्लाजमिक रेटीक्यूलम—जहां विभिन्न प्रोटीन का निर्माण होता है। यहां से निकलकर हम पीछे पैकिंग प्लान्ट में जाते हैं (गोल्गी कॉम्प्लेक्स)। यहां कोशिका से बाहर जाने वाले पदार्थों को रेल के डिब्बों में भरा जा रहा है।

सबसे बाईं ओर फैक्ट्री का एक विशाल कंप्यूटर-युक्त दफ्तर है (न्यूक्लीयस का केन्द्रक) जहां से सब कार्यों का संचालन होता है। इसी के आगे राडार लगा है जो कोशिका की संवेदनशीलता का प्रतीक है। चारों ओर दीवार (सेल मेम्ब्रेन) फैक्ट्री की रक्षा करती है और इसमें बने दरवाज़े अवांछित वस्तुओं को अन्दर नहीं आने देते।

अणु के रूप में संग्रहित रहता है। इन्हीं ब्लू प्रिन्ट के आधार पर संदेशवाहक आर०एन०ए० बनते हैं जो लिखित आदेश के रूप में प्रसारित होते हैं। हर निर्माण अक्षरशः इन्हीं लिखित आदेश-मेसेन्जर आर०एन०ए०—के आधार पर होता है। केन्द्रक, कोशिका की समस्त रासायनिक कार्यक्षमता की स्मरणशक्ति का बैंक (मेमोरी बैंक) है।

डी०एन०ए० स्वयं में एक अनोखा रासायनिक पदार्थ है—जीवन का रासायनिक आधार। डी ओक्सी राइबोज नामक चीनी या शर्करा, फोस्फोरिक एसिड और 4 नाइट्रोजन युक्त बेस—एडीनीन, थायेमीन, सायटोसीन, ग्वावैनीन से मिलकर बने डी०एन०ए० अणु में सबसे विशेष बात यह है कि यह अपनी संरचना को पुनावृत कर सकता है। यानी एक डी०एन०ए० से वैसा ही दूसरा डी०एन०ए० अणु आसानी से निर्मित हो सकता है। क्या यही जीवित प्राणियों का विशेष गुण नहीं है? डी०एन०ए० की सर्पिल या "डबल हैलिक्स" संरचना का आविष्कार जीव विज्ञान के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण घटना समझी

जाती है। वाटसन, क्रिक व विलकिन्स को 1962 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। यह जानकर और भी विस्मय होगा कि जिस समय वाटसन ने यह आविष्कार किया था उनकी आयु केवल 25 वर्ष थी।

परन्तु अभी तो हम कोशिका में रखे डी०एन०ए० को जरा और ध्यान से देखें। 4 नाइट्रोजन बेस की वर्णमाला से इसमें कोशिका के लिये सभी आदेश स्पष्ट लिखे हुए हैं और इन डी०एन०ए० अणुओं को मानव कोशिका में 46 क्रोमोजोम्स में जमाया हुआ है, जैसे ऑफिस में पत्रों को अलग-अलग फाइलों में रखा जाता है। इन सबकी अपनी एक अलग मनोरंजक और रोमांचकारी कहानी है, क्योंकि इस भाषा के रहस्य को समझने में भारत में ही जन्मे डा० हरगोविन्द खुराना ने बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। डा० खुराना को निरेनबर्ग व हौली के साथ 1968 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

माइटोकोंड्रिया नामक नन्हें-नन्हें अनेक पावर हाऊस होते हैं जिनमें स्थित श्वसन एन्ज़ाइम, ग्लूकोस और फैटी एसिड पदार्थों का ऑक्सीजन की सहायता से आक्सीकरण कर शक्ति का निर्माण करते हैं। यह सारी ऊर्जा उसी समय उपयोग में नहीं आ जाती। इसलिए इसे ए०टी०पी० नामक रासायनिक यौगिक में संचित कर दिया जाता है। ए०टी०पी० रूपी यह छोटी-छोटी बैटरियाँ कोशिका में जगह-जगह भेज दी जाती हैं। एन्डो प्लाजमिक रेटिकुलम में स्थित राईबोसोम, कोशिका में विभिन्न वस्तुओं का निर्माण करने वाली मशीनें होती हैं, जैसे फैक्ट्री में टिन शैड में लगी अलग-अलग मशीनें। यह राईबोसोम निहित आदेशों के अनुसार कोशिका में विभिन्न एमीनों एसिड को निश्चित क्रम में जोड़ कर प्रोटीन का निर्माण करता है।

विघटन करने वाले एन्ज़ाइम के भन्डार के रूप में लाइसोजोम भी कोशिका में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। कोशिका में बेकार हुए पदार्थों को तोड़कर हटाना इनका काम है। प्रोटीन के मजबूत आवरण से

बने लाइसोजोम अगर टूट जायें तो इनमें रखे एन्ज़ाइम बाहर निकलकर सारी कोशिका को ही नष्ट कर देते हैं। मृत कोशिकाओं का विघटन इसी प्रकार होता है। इसलिए उन्हें ''आन्मघाती थैलियों'' की संज्ञा दी गई है।

कोशिका का गोल्गी एपरेटस कारख़ाने का पैकिंग प्लांट है, जहां कोशिका में बने विभिन्न पदार्थों के बंडल और पैकेट बनाये जाते हैं। इस शताब्दी के प्रथम चरण में इसका सबसे पहले उल्लेख इटली के कैमीलो गोल्गी ने किया था, जिन्होंने कोशिकाओं को कई रसायनों से रंगकर माइक्रोस्कोप के नीचे अध्ययन करना आरम्भ किया। कोशिका के बारे में हमारा मूलज्ञान इसी विधि पर निर्भर है। आज के इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप तो कैमीलो गोल्गी के साधारण माइक्रोस्कोप से हमें हज़ार गुना अधिक बड़ा करके दिखा सकते हैं। गोल्गी को 1906 में नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया, परन्तु गोल्गी एपरेटस का क्या कार्य है वे पता नहीं लगा सके थे। यह तो अभी कुछ ही वर्षों में ज्ञात हुआ है।

कोशिका की दीवार एक सैन्डविच की तरह है : प्रोटीन की दो परतें और बीच में वसा की मोटी तह। यह दीवार या सेल मेम्ब्रेन न केवल कोशिका की सुरक्षा करती है बल्कि आने जाने वाले सभी पदार्थों का नियंत्रण करती है। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि इस दीवार के छोटे-छोटे दरवाज़ों में से अधिकांश बड़े अणु नहीं जा सकते। इसलिए कोशिका के अंदर स्थित सारी मशीनें जैसे केन्द्रक, माइटोकोंड्रिया, राइबोसोम तथा सभी प्रोटीन वहीं निर्मित की जाती हैं। बाहर से बनी बनाई नहीं जा सकतीं। क्या बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियों को भी ऐसे ही नहीं बनाया जाता?

□□

4

एक जीवित डायनमो

आज से करीबन 200 वर्ष पूर्व 20 सितम्बर 1786 की शाम एक साधारण सी घटना ने जीव-विज्ञान को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण नई दिशा दी। उस दिन इटली के बोलोन नगर में बादल छाये थे, और रह रहकर बिजली चमक रही थी। श्रीमती लुई गेलवेनी ने छत पर बंधे लोहे के तार पर मेंढ़क की टांगें सूखने के लिये लटका रखी थीं (मेंढ़क की टांगें कई देशों में बड़े चाव से खाई जाती हैं)। श्रीमती गेलवेनी ने आश्चर्य से देखा कि थोड़ी-थोड़ी देर में मेंढ़क की टांगें अपने आप उछलने लगती थीं, और कुछ तो तार से कूदकर नीचे भी आ गिरीं। विस्मय और भय से उन्होंने सोचा होगा कि जरूर यह किसी भूत या प्रेतात्मा का काम है। वरना उन मरे हुए मेंढ़कों में हलचल कैसी? उस युग में वैसे भी अधिकांश विपदाओं को किसी अलौकिक शक्ति या प्रेतों का प्रकोप ही समझा जाता था। परन्तु, संयोगवश श्री गेलवेनी भी उस समय घर पर थे। बोलोन विश्वविद्यालय में शरीर-रचना विभाग के अध्यक्ष, प्रोफेसर गेलवेनी ने इस दृश्य को गम्भीरता से देखा, और थोड़ी ही देर में इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मेंढ़क की टांगों में हलचल उसी क्षण होती है, जब आकाश में तेज़ बिजली चमके। तो क्या यह विद्युत शक्ति का प्रभाव था जिससे लोहे के तारपर टंगी मेंढ़क की मांस-पेशियाँ संकुचित हो रही थीं?

कोई साधारण व्यक्ति होता तो व्यर्थ ही इस प्रश्न में उलझने के बजाए उन स्वादिष्ट टांगों को खाने में अधिक रुचि लेता। परन्तु प्रोफेसर गेलवेनी इस छोटी सी बात पर बराबर सोचते रहे, और कई प्रयोग करने के बाद उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि विद्युत तरंगें ही सभी जीवों में मांस-पेशियों को संकुचन के लिये प्रेरित करती हैं। तो क्या मनुष्य के शरीर का संचालन भी, किसी दैविक-शक्ति या किसी अलौकिक जीव-रस के द्वारा न होकर बिजली जैसी साधारण भौतिक शक्ति द्वारा होता है? आज हमें यह बात साधारण सी लगे पर मध्ययुग के वातावरण में यह एक क्रांतिकारी विचार था। उन दिनों कोई भी इसे मानने को तैयार नहीं था। क्या हमारा शरीर कोई "मशीन" है जो विद्युत से चले!

गेलवेनी के इस निष्कर्ष का सबसे अधिक विरोध किया उन्हीं के देशवासी एलेसेन्ड्रो वोल्टा ने। वोल्टा भौतिक-विज्ञान के विख्यात प्राचार्य थे। प्रयोगशाला में विद्युत उत्पन्न करने के लिये उन्होंने सर्वप्रथम जिस बैटरी का आविष्कार किया उसे "वोल्टेइकसैल" ही कहते हैं। वोल्टा का मत था कि विद्युत एक निर्जीव प्राकृतिक शक्ति है। जीवन क्रियाओं से उसका क्या सम्बन्ध? गेलवेनी की तीव्र आलोचना करते हुए उन्होंने कहा कि मांस-पेशियों के संकुचन को विद्युत से जोड़कर वह जीवन की गरिमा को ही कम कर रहे हैं।

गेलवेनी और वोल्टा की इस बौद्धिक प्रतिस्पर्धा के कारण जीवविज्ञान और भौतिकी दोनों में ही महत्वपूर्ण प्रगति हुई। आज इन दोनों महान वैज्ञानिकों के नाम हम बराबर सुनते हैं : गेलवेनिक करेंट, गेलवेनोमीटर, वोल्टमीटर, वोल्ट इत्यादि।

उन्नीसवीं शताब्दी में ड्यूबोय रेमोन्ड, हेल्महोल्टज आदि कई वैज्ञानिकों ने गेलवेनी का अनुसरण करके जीव क्रियाओं के अध्ययन में

विद्युत का प्रयोग किया। किसी साधारण बैटरी या ऐसे ही उपकरण द्वारा हल्का सा बिजली का झटका देकर किसी भी मांसपेशी का संकुचन स्पष्ट रूप से देखा जा सकता था। आज उसे एक काजल-लगे घूमते हुए कागज पर अंकित भी कर सकते हैं। इसप्रकार के अध्ययनों से धीरे-धीरे यह महत्वपूर्ण बात सामने आई कि हमारे शरीर में जो तंत्रिका (नर्व) का जाल बिछा है उसमें संदेश विद्युत संकेतों के रूप में ही आते-जाते हैं। अपने घर और बाहर तो हमने बिजली का उपयोग अभी केवल 100 वर्षों से ही करना आरम्भ किया है; 1886 में ही लन्दन में सर्वप्रथम घरों में बिजली की रोशनी की व्यवस्था आरम्भ की गई थी। परन्तु प्रकृति तो इसका सुन्दर उपयोग करोड़ों वर्षों से हमारे शरीर की संचार व्यवस्था में कर रही है।

इस संचार व्यवस्था को समझने के लिये पहले हम एक क्षण सबसे सरल और छोटे जीवों की ओर देखें। जैसे बैक्टीरिया, पानी में पाये जाने वाले एमीबा (जिनकी एक जाति, एन्टअमीबा हिस्टोलिटिका, हमारे पेट में बस कर हमें अक्सर बहुत परेशान करती है) इत्यादि। इनका शरीर इतना छोटा है—एक ही कोशिका से बना—कि हर भाग एक दूसरे भाग के सीधे सम्पर्क में है, उसी तरह जैसे एक परिवार या घर में सभी सदस्य एक दूसरे से बराबर सम्पर्क में रहते हैं। हर बात सहज ही सभी तक पहुंच जाती है। परन्तु अब अगर पूरे शहर या पूरे देश की ओर ध्यान दें, या किसी बड़े प्राणी के पूरे शरीर को देखें, तो एक अच्छी संचार व्यवस्था की आवश्यकता एकदम स्पष्ट हो जाती है। इसके बिना एक भाग—एक अंग—में होने वाली घटना का दूसरों को पता ही नहीं चल सकता। हमारे पैर में कांटा चुभा हो तो एक क्षण में ही यह सूचना सुदूर मस्तिष्क में पहुंचानी है। वहाँ से उपयुक्त आदेश वापस हाथों को भेजने हैं ताकि

काटे को निकालकर फेंका जा सके। व्हेल, हाथी, जिराफ़ जैसे भीमकाय प्राणियों में तो इसकी आवश्यकता और भी अधिक महसूस होगी। लुप्त हुआ विशाल डायनोसोरस अगर अचानक प्रकट हो जाये और उसकी पूंछ को कोई काटे तो बिना फुर्तीली आन्तरिक संचार व्यवस्था के वह पीछे मुड़कर देख भी नहीं पायेगा और उतनी देर में पूंछ गायब!

चित्र 13

शरीर में इस संचार व्यवस्था के लिये तंत्रिकाओं का एक जाल बिछा हुआ है। परन्तु किसी सामान्य व्यक्ति से पूछें कि इन तंत्रिकाओं में आखिर क्या चलकर जाता है तो वह विस्मय से सोचता ही रह जायेगा। एक बालक शायद कहे कि तंत्रिकाओं में छोटे-छोटे बौने भागकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर समाचार ले जाते होंगे, जैसे पोस्टमैन पत्र ले जाते हैं। समझदार लोग कुछ जटिल शब्दों का सहारा लेकर कहेंगे कि तंत्रिकाओं द्वारा "चेतना" का सचार होता है अथवा "संवेदना", "स्पन्दन" अथवा "जीव-शक्ति" का। परन्तु बात वहीं की वहीं रही। हम तो स्पष्ट जानना चाहते हैं कि जब पैर में कांटा चुभा तो वहां से चलकर हमारे
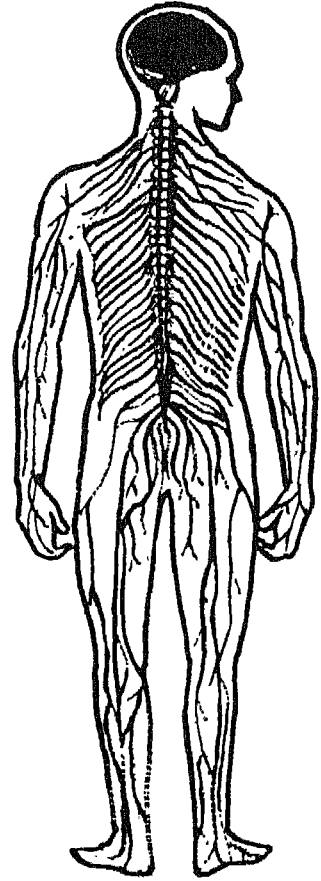
मस्तिष्क में आखिर क्या जा रहा है? कौन जा रहा है? यहां छोटे बच्चों की कल्पना अधिक साकार और स्पष्ट मालूम पड़ती है। वह केवल गूढ़ शब्दों से संतुष्ट नहीं होते। वह तो अपनी आंखों से देखना चाहते हैं कि आखिर इन बारीक तंत्रिकाओं में होकर कौन एक स्थान से दूसरे स्थान तक भाग रहा है!

गेलवेनी के मार्गदर्शन से आज हम इन प्रश्नों का सही उत्तर दे सकते हैं : तंत्रिकाओं में बिजली के संकेत चलते हैं, बहुत कुछ उसी तरह जैसे टेलीफोन के तारों में। तंत्रिका और बिजली के तार की रचना में भी एक अद्भुत समानता है, हालांकि दोनों बिलकुल भिन्न पदार्थ से बने हैं—एक कठोर, निर्जीव धातु से और दूसरा कोमल जीवित पदार्थ से। दोनों में मूलतः एक जैसी 3 परतें हैं : सबसे भीतर एक लम्बा विद्युत-चालक भाग, फिर एक चरबी (माथलीन) या रबर का खोल जो विद्युत को बाहर न फैलने दे और सबसे ऊपर सुरक्षा के लिये न्युरोलेमा-झिल्ली या कपड़े अथवा प्लास्टिक का खोल।
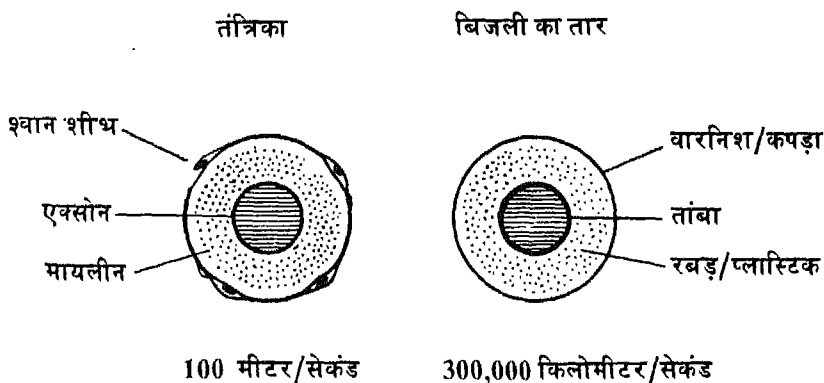
चित्र 14

चित्र 15

शरीर की इस विद्युतमय संचार व्यवस्था की जटिलताओं को खोज निकालना वैज्ञानिकों के लिये कोई आसान काम नहीं था। इस क्षेत्र में अन्वेषण के लिये कई नोबेल-पुरस्कार दिये जा चुके हैं। 1944 में जोसेफ एरलेन्गर और उनके युवा शिष्य हरबर्ट गैसर ने नव-निर्मित केथोड-रे-ओसीलोस्कोप का उपयोग करके सबसे पहले इन सूक्ष्म विद्युत संकेतों के चित्र लिये, उन्हें नापा, और उनका विश्लेषण किया। एरलेन्गर और गैसर ने एक आश्चर्यजनक बात देखी कि यह विद्युत संकेत सभी तंत्रिकाओं में एक जैसे ही हैं। करीबन 100 मिली-वोल्ट का एक क्षणिक आवेश, यानी 1 वोल्ट का भी केवल 1/10वां भाग। यह करेंट वैसे तो बहुत कम है और हम अपना हाथ किसी तंत्रिका पर रख दें तो कोई झटका नहीं लगेगा परन्तु दूसरे परिप्रेक्ष्य में यह 1/10 वोल्ट भी काफी प्रभावशाली लगता है। आखिर ट्रांज़िस्टर रेडियो, घड़ी, केलकुलेटर आदि में साधारणतया लगाई जाने वाली बैट्रियाँ 2 वोल्ट विद्युत ही तो उत्पन्न करती हैं। तंत्रिकाएँ तो बाल से भी अधिक पतली हैं, परन्तु इतनी बारीक़ होते हुए भी 1/10 वोल्ट का विद्युत संकेत उत्पन्न करें तो क्या यह आश्चर्य की बात नहीं। हमारे सिर के बाल का व्यास करीबन 1/10 मि.मी. होता है और तंत्रिकाओं का 1/2000 से 1/50 मि.मी. तक, यानि एक बाल की मोटाई में 5 से लेकर कई सौ तंत्रिका तक समा सकती हैं।
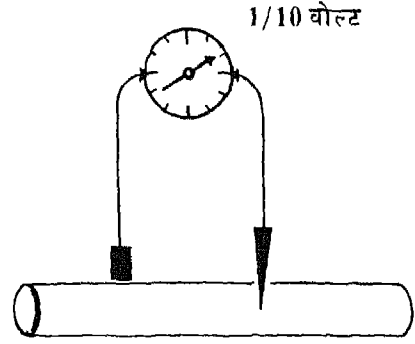
इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि शरीर की सभी तंत्रिकाओं में आ-जा रहे संदेशों की भाषा भी बिलकुल एक है। केवल

एक संकेत–एक शब्द–ही बराबर दोहराया जा रहा है। मोर्स द्वारा बनाई गई टेलीग्राफ या तार प्रणाली में भी 2 संकेतों का प्रयोग होता है–डॉट और डेश। इनको अलग-अलग तरह से मिलाकर सारी वर्णमाला इंगित की जाती है। पर हमारे शरीर में काम आ रही प्रणाली से तो अधिक सरल हो ही क्या सकता है। बस केवल एक शाश्वत संकेत, एक शब्द। संकेत सरल हो गए तो उनसे सही मतलब निकालना उतना ही कठिन हो गया है। यही विद्युत संकेत जब आंखों से चलकर मस्तिष्क के एक भाग में पहुंचते हैं तो हमें रंग-बिरंगे दृश्यों का आभास होता है। अगर कानों से चलकर मस्तिष्क के दूसरे भाग में जाएं, तो हमें मधुर संगीत सुनाई देने लगता है और यही संकेत अगर मस्तिष्क से चलकर हाथ की मांस-पेशियों में जाएँ तो हमारी अंगुलियाँ सितार बजाने लगेंगी। कैसी अद्‌भुत प्रणाली है।

अगर हम मस्तिष्क की तुलना एक ऑफिस से करें तो हम देखते हैं कि आने-जाने वाले सभी पत्रों पर केवल एक ही शब्द, एक ही संकेत, लिखा हुआ है। लेकिन आफिस के बाबुओं में काम इसप्रकार बंटा हुआ है कि जिस टेबल पर पत्र पहुंचा उसीसमय उसका एक पूर्व निश्चित अर्थ लिया गया और एक खास कार्यवाही आरम्भ की गई। देर या टालमटोल का कोई स्थान नहीं। अगर पत्र पर वही संकेत कई बार दोहराया गया है तो उसका अर्थ होगा कि संदेश की महत्ता या तीव्रता को उतना ही अधिक समझा जाए। पैर में काँटे की चुभन जैसे-जैसे बढ़ रही है, इन तंत्रिकाओं में मस्तिष्क की ओर दौड़ते हुए विद्युत संकेतों की संख्या भी उसी तरह बढ़ती जायेगी। जैसे 10 प्रति सेकण्ड से बढ़कर 100 प्रति सेकण्ड हो जाए।

केवल एक संकेत का उपयोग करके जहाँ हमारी संचार व्यवस्था बहुत सरल बन गई है, वहीं इन संकेतों से सही मतलब निकालने के

लिये हमारा मस्तिष्क अत्यन्त जटिल और रहस्यमय बन गया है। पर इसकी आगे अलग से खोज करेंगे।

हमें यह भ्रम हो सकता है कि शरीर के अन्दर तंत्रिकाओं में विद्युत-धारा वैसे ही प्रवाहित हो रही है जैसे खम्भे पर लगे तारों में। लेकिन ऐसा नहीं है। विद्युत धारा की गति तो अत्यन्त तीव्र है : 3,00,000 किलोमीटर प्रति सेकण्ड। यानी एक सेकण्ड में ही यह सारी पृथ्वी के 7 चक्कर लगा सकती है। लेकिन एरलेन्गर और गैसर ने अपने प्रयोगों में देखा कि तंत्रिकाओं में संकेतों की गति तो अधिक से अधिक 120 मीटर प्रति सेकण्ड ही है और साधारणतया तो केवल 10-20 मीटर प्रति सेकण्ड ही। कहाँ 3 लाख किलोमीटर या 30 करोड़ मीटर और कहाँ केवल 120 मीटर या इससे भी कम। इसका समाधान किया वर्षों के अथक परिश्रम के बाद तीन वैज्ञानिकों ने : एलन होजकिन, एन्ड्रयू हक्सले और सर जॉन एकल्स। तांबे या एल्यूमीनियम के जिन तारों का जाल मनुष्य ने पृथ्वी पर बिछाया है, उसकी तुलना में हमारे शरीर में बिछा तंत्रिका-जाल कहीं अधिक जटिल है। हमने देखा है कि मोटे तौर पर तंत्रिका और तार दोनों की रचना एक जैसी लगती है, पर आश्चर्य है कि मृत्यु के बाद तंत्रिकाओं में संकेतों का प्रवाह नहीं होता। हम फिर एक पहेली में उलझ गए। किसी अदृश्य तरीके से तंत्रिका का कार्य भी "जीवन" से जुड़ा है। वह खाली धातु के तार की तरह विद्युत प्रवाह का एक माध्यम नहीं हैं। वास्तव में जीवित तंत्रिका रासायनिक क्रिया द्वारा स्वतः एक विद्युत-आवेश उत्पन्न किये रहती है, एक छोटी सी बैटरी की तरह। जिसे हम अब तक विद्युत-संकेत समझते आये हैं, वह तंत्रिका पर पहले से मौजूद इस विद्युत आवेश में एक क्षणिक उतार-चढ़ाव है, जैसे पानी में पत्थर फेंकने पर लहरें। यही लहर धीरे-धीरे तंत्रिका में चलती जाती है। सामान्यतः इसकी गति 10 से 120
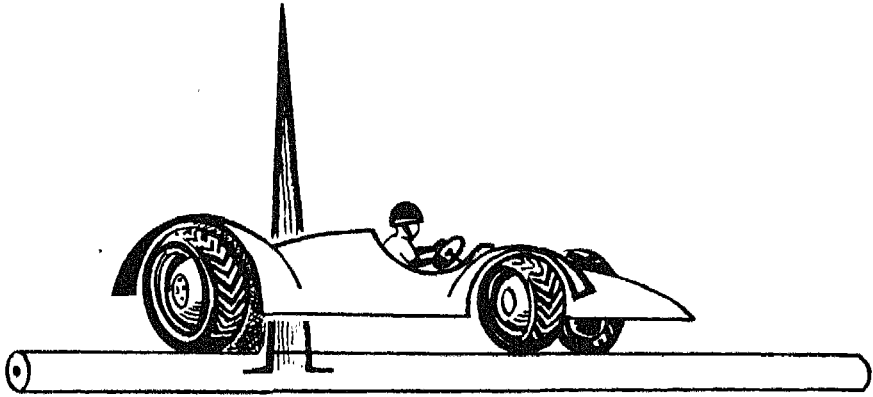
120 मीटर प्रति सेकंड या 432 किलोमीटर प्रति घंटा

चित्र 16

मी. प्रति सेकण्ड होती है। दूसरे शब्दों में करीबन 300 किलोमीटर प्रति घंटा, या एक तेज़ रेसिंग कार की तरह।

पर बिजली की तीव्र गति से इसकी कोई तुलना नहीं।

जीवित, विद्युतमयी संचार व्यवस्था को समझने के लिये हम किसी बनते हुए मकान को देखें। छत डाली जा रही है और कई मजदूर टोकरियों में कंक्रीट भर-भरकर ऊपर पहुंचा रहे हैं। अब एक तरीका तो यह हो सकता है कि हर मजदूर भागता हुआ ऊपर जाए और टोकरी खाली करके वापस नीचे दौड़े। एक दूसरा अधिक व्यवस्थित और सुगम तरीका भी है। सभी मजदूर लाइन बनाकर खड़े हो जाएं और टोकरियाँ हाथों-हाथ आगे बढ़ाते जाएं। किसी को भी अपने स्थान से हिलने की आवश्यकता नहीं। केवल टोकरियाँ एक निरन्तर क्रम से ऊपर पहुंचती जाएंगी। हमारे शरीर ने भी यही प्रणाली अपनाई है। तंत्रिका के एक

छोर से दूसरे छोर तक बहकर विद्युत-धारा नहीं जा रही है। जाना भी कठिन है, क्योंकि हमारा शरीर तांबे या लोहे जैसी धातुओं की तरह बिजली का सुचालक नहीं है। इसीलिये जीवित तंत्रिका की सारी लम्बाई

चित्र 17
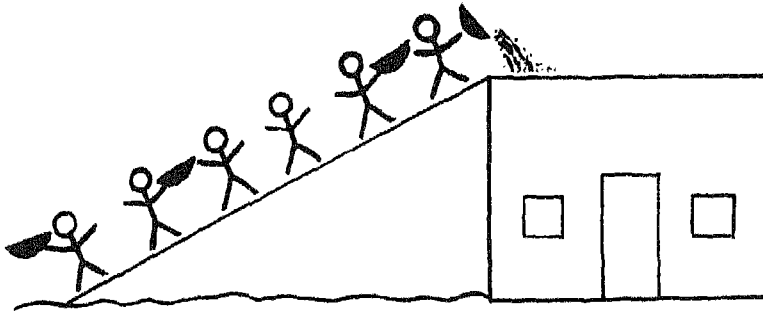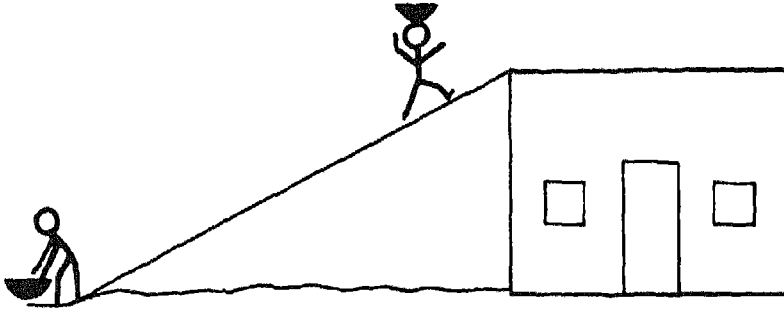
को ही विद्युतमय बना दिया गया है, और इसमें एक क्षणिक परिवर्तन ही ''हाथों-हाथ'' आगे बढ़कर संदेश वाहक का काम करता है।

जो प्रणाली प्रकृति ने अपनाई है उससे सूचनाओं का आदान-प्रदान चाहे धीमी गति से हो, पर उसके कुछ लाभ भी हैं। अगर तंत्रिकाओं के स्थान पर तार लगे होते, तो किसी भी स्थान पर तार टूट जाने से उस भाग का सदा के लिये बाकी शरीर से सम्पर्क विच्छेद हो जाता। लेकिन हमारी जीवित तंत्रिका में यह क्षमता भी है कि वह स्वयं अपने आपको पुनः जोड़ सके। हाँ, टूटे हुए सिरों के बीच दूरी अधिक नहीं होनी चाहिए। परन्तु मस्तिष्क और सुषुम्ना (स्पाइनल कार्ड) के अन्दर ऐसा नहीं हो सकता, और इसीलिये इनमें चोट लगने पर स्थायी क्षति हो जाती है।

इनसब बातों का पता लगाने के लिये होजकिन, हक्सले और उनके सहयोगियों ने जिस सूझबूझ से काम लिया था वह भी कुछ कम दिलचस्प नहीं। हमने देखा है कि एक तंत्रिका तो बाल से भी अधिक पतली होती है। उसपर कैसे परीक्षण किये जाएं? परन्तु सौभाग्यवश इन वैज्ञानिकों का ध्यान स्क्विड़ नामक एक समुद्री जीव की ओर गया। इसमें कुछ ऐसी तंत्रिकाएं होती हैं जिनकी मोटाई 1.5 मिलीमीटर तक है, यानि साधारण तंत्रिकाओं से लगभग 100 गुना अधिक, एक मोटे डोरे की तरह। इसीलिये इन्हें ''जायन्ट एक्सोन ऑफ दी स्क्विड़'' कहते हैं। स्क्विड़ ने इन अनोखी तंत्रिकाओं का विकास अपने बचाव के लिये किया है। किसी शत्रु से सामना होने पर स्क्विड़ के मस्तिष्क से आदेश इन विशेष तंत्रिकाओं में दौड़कर पीछे एक स्याही जैसे द्रव्य से भरे थैले को जाते हैं। दूसरे ही पल आस-पास का सारा पानी इस स्याही से काला हो जाता है, जिसके पीछे छुपकर स्क्विड़ अपनी जान बचा लेती है। यहाँ हम एक और महत्वपूर्ण तथ्य देख रहे हैं : तंत्रिका जितनी मोटी हो उतनी ही तीव्र गति से उसमें संचार होगा।

1963 में तंत्रिका की संचार प्रणाली पर अनुसंधान के लिये होजकिन, हक्सले और ऐकल्स को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।
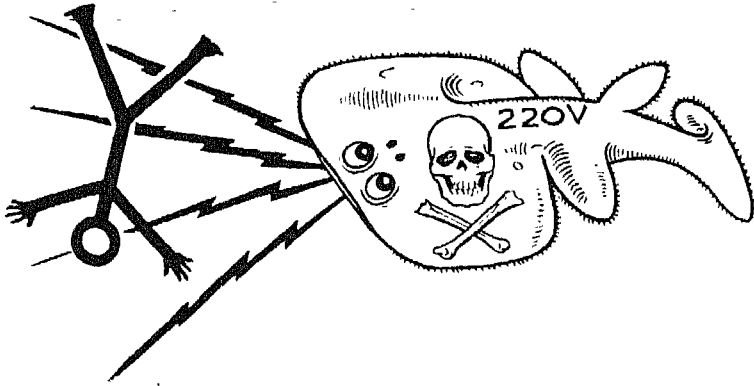
चित्र 18

स्क्विड़ से हमारा ध्यान समुद्र में ही पाए जाने वाले एक और प्राणी की ओर जाता है—"इलेक्ट्रिक या टोरपीड़ो रे"। इन मछलियों ने तो विद्युत शक्ति के प्रयोग में कमाल ही कर दिया है। अपने एक विशेष विद्युत अंग में ये इतना अधिक आवेश उत्पन्न कर लेती हैं कि उसके झटके से किसी भी शत्रु को बेहोश किया जा सके। पीठ में पंक्तिबद्ध तरीके से सीधे क्रम में लगी 1000 से भी अधिक विद्युत कोशिकाओं का योग इतना हो जाता है कि पानी में 220 वोल्ट तक के झटके नापे गए हैं। इससे छोटी-मोटी मछलियाँ तो क्या, एक बार मनुष्य भी धराशायी हो
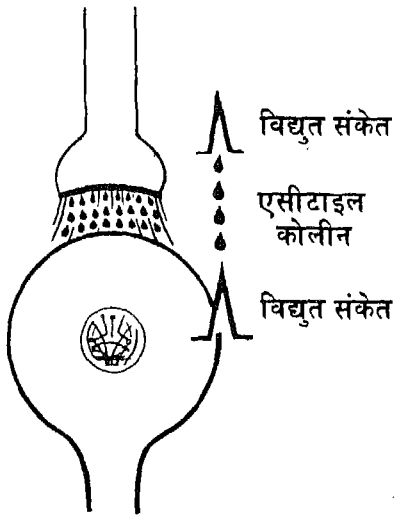
चित्र 19

जाये। माइकल फराडे ने तो 1832 में प्रथम डायनमो बनाया था, पर यह "जीवित डायनमो" तो करोड़ों वर्षों से काम कर रहे हैं।

हमारी संचार व्यवस्था का एक और आश्चर्यजनक पहलू उस समय सामने आया जब जर्मनी में ओटो लोइवी ने देखा कि संकेत ऐक तंत्रिका के छोर से अगली तंत्रिका पर जाने के लिये एक रासायनिक संदेशवाहक की मदद लेते हैं। बिजली के 2 तारों को तो हम सीधा जोड़ देते हैं। उनमें सम्पर्क होना काफी है, विद्युत बहती हुई एक से दूसरे में चली जायेगी। पर आश्चर्य है कि शरीर में 2 तंत्रिकाओं के छोर एक दूसरे को छूते नहीं। उनके बीच हमेशा एक निश्चित खाई रह जाती है। तंत्रिका और उससे प्रभावित मांसपेशी के बीच भी यही सम्पर्क है। इस खाई को विद्युत संकेत कूदकर पार नहीं कर सकते। यहाँ संदेशवाहक का काम एक रासायनिक पदार्थ करता है। तंत्रिका के छोर पर यह पदार्थ अति सूक्ष्म पैकेटों में एकत्रित रहता है। आवश्यकता पड़ते ही इन्हें खाई में फेंक दिया जाता है—एक बौछार की तरह। दूसरे किनारे पर पहुंचते ही यह पदार्थ अगली तंत्रिका को उत्तेजित कर देता है। वही विद्युत संकेत एक तरह से पुनर्जीवित होकर फिर आगे बढ़ता है। संदेशवाहक का काम पूरा हो गया, तो वह विघटित होकर बह जाता है।

ओटो लोइवी ने इस सारी प्रक्रिया को सुझाया था, पर इस पदार्थ को

सही रासायनिक रूप में पहचाना इंग्लैण्ड में सर हैनरी डेल ने। "एसीटाईल-कोलीन" को तंत्रिकाओं के बीच एक रासायनिक संदेशवाहक के रूप में खोज निकालने के लिये दोनों वैज्ञानिकों को 1936 में नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया था।

अब यह स्पष्ट हो गया है कि विद्युत और रासायनिक क्रिया का यह सम्मिश्रण हमारी संचार व्यवस्था की एक बहुत बड़ी विशेषता है। उदाहरणार्थ, सूचनाओं के आदान-प्रदान में सबसे अधिक देर ही इन तंत्रिकाओं के बीच जंक्शन या "सिनेप्स" में लगती है। मान लीजिये हमारे पैर में कांटा चुभा। हमें दर्द तब अनुभव होगा जब यह सूचना हमारे मस्तिष्क तक पहुंचेगी। यह दूरी अधिक से अधिक 2 मीटर होगी। अगर 100 मीटर प्रति सेकण्ड की गति से विद्युत संकेत चलकर जाएं तो 2 मीटर तय करने में उन्हें 1/50 सेकण्ड या 20 मिली सेकण्ड ही चाहिए। परन्तु वास्तव में पैर से मस्तिष्क तक का रास्ता सीधा नहीं है। बीच में 2 जंक्शन या सिनेप्स आते हैं। यानी पहली तंत्रिका पैर से आरम्भ होकर हमारी पीठ में सुषुम्ना तक जाती है, दूसरी यहाँ से मस्तिष्क के मध्य भाग तक, और फिर तीसरी वहाँ से मस्तिष्क के सर्वोपरि भाग में, जहाँ अनुभूति होती है। बीच के इन दो सिनेप्स के कारण समय 20 मिली सेकण्ड से बढ़कर 40 तक हो सकता है। वैसे है यह फिर भी इतना कम कि हमें तो यही लगता है जैसे कांटा चुभा और दर्द हुआ।

जब हम दिन भर काम करने के बाद शाम को थक जाते हैं, तब उस थकावट का कारण भी सिनेप्स में इस संदेशवाहक पदार्थ की कमी पड़ जाना है। संचार व्यवस्था शिथिल हो जाती है। डॉक्टरों द्वारा दी जाने वाली बहुत सी दवाएं भी इन्हीं संदेशवाहक रासायनिक पदार्थों के माध्यम से काम करती हैं—चाहे पेट के दर्द की दवा हो या दमें की। स्वयं

तंत्रिकाओं में दौड़ते हुए विद्युत संकेत तो इन सब प्रभावों से परे हैं, ये न थकते हैं न विचलित होते हैं।

नि:सन्देह शरीर के अन्दर भी बिजली का उतना ही व्यापक और महत्वपूर्ण उपयोग है जितना हम आज शरीर के बाहर देखते हैं।

इन अति सूक्ष्म विद्युत संकेतों का उपयोग आज डॉक्टर कई बीमारियों का पता लगाने में भी करते हैं। आधुनिक मशीनें इन्हें सरलता से कागज पर अंकित कर सकती हैं और डॉक्टर इनका अध्ययन करके उस अंग के बारे में बहुत महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त करते हैं। संकेत तो स्वत: उस अंग की क्रिया के साथ उत्पन्न हो रहे हैं। हम केवल उन्हें शरीर की सतह से मशीन तक पहुंचाकर अंकित करते हैं। रोगी को जरा भी असुविधा या हानि नहीं होती। उदाहरण के लिये :–

हृदय से... इलैक्ट्रोकारडियोग्राम या ई. सी. जी.
मस्तिष्क से... इलैक्ट्रो-इनसेफेलोग्राम या ई. ई. जी.
मांसपेशियों से... इलैक्ट्रोमायोग्राम या ई. एम. जी.

□□

5

हृदय एक अनोखा पम्प

हृदय की शल्य चिकित्सा (ओपन हार्ट सर्जरी) का अर्थ है हृदय की धड़कन को सर्वथा रोककर, उसके कोष्ठों को खोलकर, उसे काटकर, जोड़ना और फिर सिलाई करना। कैसे करते होंगे यह सब? हृदय का धड़कना जब बन्द कर देते हैं तो शरीर को रक्त कैसे जाता है? आदमी जीवित कैसे रहता है? रक्त की छोटी-सी नली को खोलने पर तो रक्त के फव्वारे छूट जाते हैं फिर हृदय के कोष्ठकों को कैसे खोलते हैं? हृदय की धड़कन को घंटों रोककर भी आदमी को कैसे जीवित रखते हैं? आज जब हृदय की शल्य चिकित्सा या ओपन हार्ट सर्जरी हमारे देश में भी कई स्थानों पर होने लगी है तो यह सवाल बड़े स्वाभाविक लगते हैं। लोग सोचते हैं कि इसके लिये तकनीकी रूप से अति जटिल मशीन और उपकरण लगते होंगे। अगर उन्हें बताया जाये कि आपरेशन के दौरान हृदय का काम करने वाली मशीन वस्तुतः एक साधारण सा रोलर पम्प है जिसका मॉडल एक बच्चा भी बना सकता है तो शायद विश्वास न आये। लेकिन यह सत्य है। एक साधारण मोटर जो रोलर को घुमाये और एक खांचे में लगी प्लास्टिक की नली, बस इन्हीं से बनता है हृदय की जगह काम करने वाला पम्प।

वास्तव में हमारा हृदय भी एक पम्प ही है जो विशेष प्रकार की
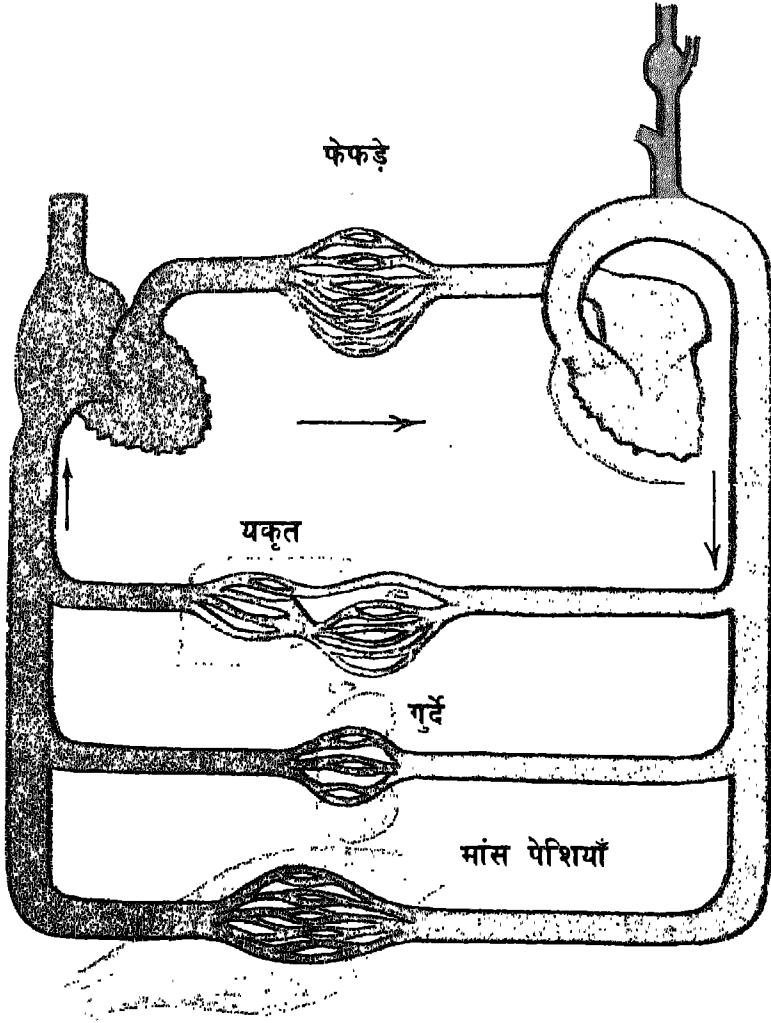
चित्र 20 : रक्त संचार व्यवस्था। हृदय में वास्तव में दो पम्प हैं—एक दाहिना और एक बायां। इन्हें अलग करके दिखाया गया है।

मांसपेशियों से बना है अथवा यह कहें कि दो पम्प साथ-साथ जुड़े हैं तो अधिक सही होगा। दोनों मुट्ठियों के बराबर, बाईं मुट्ठी के बराबर उसका बायां भाग और दाईं मुट्ठी के बराबर दायां। हर भाग में दो कोष्ठ (चेम्बर) होते हैं--एक अलिंद (एट्रियम या ओरिकल) और एक निलय (वेंट्रिकल)। शिराओं द्वारा सारे शरीर से रक्त अलिन्द में आता है और निलय द्वारा रक्त धमनियों में पम्प किया जाता है। दोनों ओर अलिंद और निलय के बीच कपाटिका (वाल्व) होती है जो खिड़की के पाट की तरह केवल एक ही ओर खुलती है। इन इकतरफी कपाटिकाओं के कारण रक्त निलय से वापस अलिंद में नहीं जा सकता। धमनियों के उद्गम पर भी ऐसी ही इकतरफी कपाटिकाएं होती हैं जिससे धमनियों से रक्त वापस निलय में नहीं आ पाता। किसी साधारण पम्प में भी इस तरह के वाल्व होना आवश्यक है। साईकिल या फुटबाल में हवा भरने वाला पम्प हो या ट्यूबवेल में से पानी निकालने वाला।

हृदय सारे शरीर में रक्त का संचार करता है जिसके बिना हम जीवित नहीं रह सकते। लगता है यह बात मनुष्य को बहुत प्राचीन काल से ज्ञात थी। कुछ गुफाओं की दीवार पर आदिमानव द्वारा 20,000 वर्ष पहले बनाये गये चित्रों में दिखाया गया है कि किसी भी बड़े पशु को मारने के लिये भाले या तीर का निशाना उसके हृदय स्थल पर लगाना चाहिये न कि पैर, सिर या पेट पर। इसी पम्प के लिये शायद शब्द, हृदय यही दर्शाता है कि जो अंग ग्रहण करे और वापस दे। इंग्लैंड के विलियम हारवे को यह प्रमाणित करने का श्रेय जाता है कि हृदय रक्त को एक गोल दायरे में बराबर घुमाता रहता है। आज से करीबन साढ़े तीन सौ वर्ष पहले, 1628 में हारवे ने अपना निष्कर्ष एक छोटी सी पुस्तक के रूप में इंग्लैण्ड के सम्राट चार्ल्स प्रथम को भेंट किया था। उस समय आज जैसे वैज्ञानिक उपकरण नहीं थे। माइक्रोस्कोप का भी
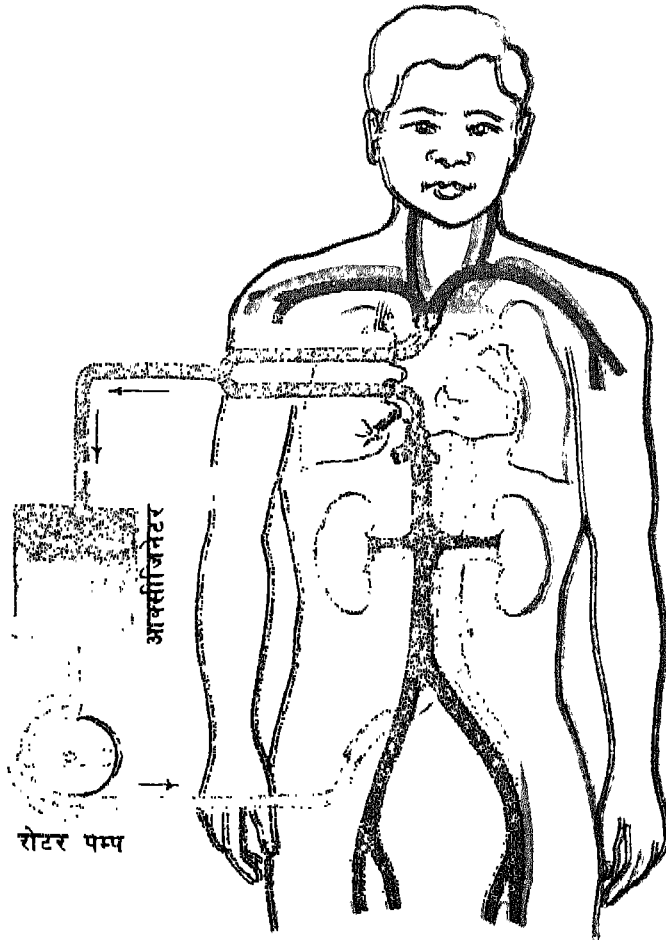
चित्र 21 : ओपन-हार्ट सर्जरी में हृदय को ऑपरेशन के लिए बन्द करके सारे शरीर में रक्त और ऑक्सीजन पहुंचाने का कार्य बाहर रखी हार्ट-लंग मशीन द्वारा किया जा रहा है।

आविष्कार नहीं हुआ था, परन्तु हारवे के पास थी अद्भुत बुद्धि और लगन। कुछ सरल प्रयोगों और साधारण अनुभवों के आधार पर उन्होंने प्रमाणित कर दिया कि–

1. रक्त हमेशा शरीर में एक ही दिशा में बराबर गोल-गोल चक्कर लगाता रहता है,
2. रक्त हमेशा बारीक नलियों (रक्त वाहिनियों) में ही बन्द रह कर घूम रहा है, कहीं भी इन नलियों के जाल से बाहर नहीं निकलता,
3. हृदय की धड़कन एक पम्प की तरह रक्त का बहाव बनाए रखती है।
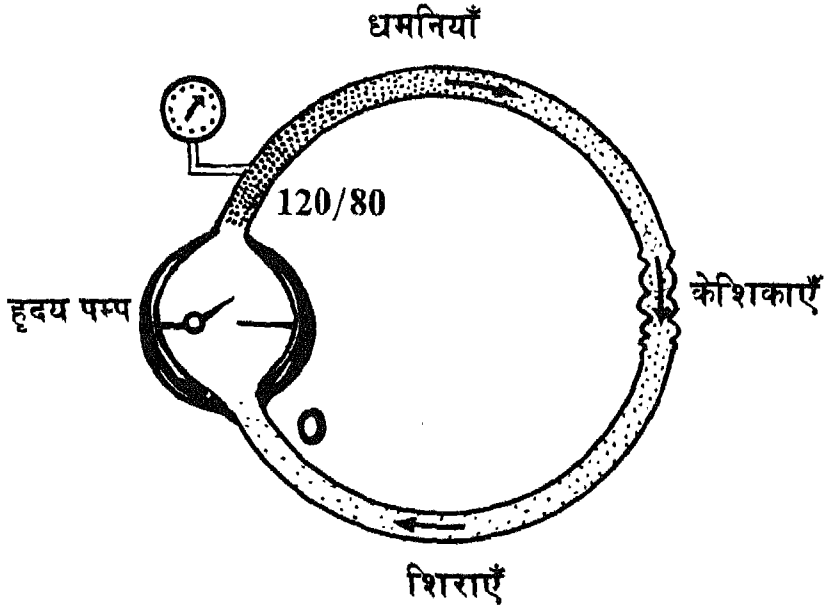
चित्र 22

इन निष्कर्षों से यह नहीं समझना चाहिए कि हृदय रक्त को धमनियों में धकेल रहा है, जैसे कोई खिलाड़ी फुटबॉल को किक् करता है। रक्त के संचार या परिभ्रमण का कारण यह नहीं है। दिसम्बर 1733 में स्टीफन हेल्स ने सही कारण का पता लगाया था। पर स्टीफन हेल्स न तो कोई डॉक्टर थे न कोई प्रशिक्षित वैज्ञानिक। वे पादरी थे और उन्हें प्रकृति के अध्ययन में बहुत रुची थी। उन्होंने एक घोड़े की गर्दन में मुख्य धमनी के अन्दर बत्तख की श्वास-नली (रबर या लोहे की ट्यूब क्यों नहीं? सोचिए) डालकर उसे 9 फुट लम्बी कांच की सीधी नली से जोड़ दिया। स्टीफन हेल्स ने आश्चर्य से देखा कि दूसरे ही क्षण रक्त इस नली में 8′ 3″ की ऊंचाई तक चढ़ गया। इसका अर्थ यह हुआ कि रक्त धमनियों में केवल भरा हुआ ही नहीं है परन्तु बहुत दबाव से है। हम आसानी से गणना कर सकते हैं कि 8′ 3″ ऊंचे रक्त के स्तंभ का दबाव 190 मि.मी. पारे के बराबर होगा।

इस प्रकार स्टीफन हेल्स ने प्रथम बार धमनियों में रक्त के दबाव को नापा और आज तो इस रक्त-चाप को नापना हर डॉक्टरी परीक्षण का एक मुख्य अंग हो गया है। परन्तु इसके लिये स्टीफन हेल्स की तरह हमें धमनियों में कोई नली या सुई नहीं घोंपनी पड़ती बल्कि एक बहुत सुविधाजनक तरीके से इसका अनुमान लगाया जाता है।

अब हम शरीर में रक्त परिभ्रमण की प्रक्रिया को अच्छी तरह समझ सकते हैं। रक्त निरंतर धमनियों, कोशिकाओं और शिराओं से दौड़ता हुआ वापस हृदय में लौट रहा है। क्योंकि धमनियों के उद्गम पर रक्त चाप बहुत अधिक है और शिराओं के छोर पर एकदम कम। इसलिये जैसे पानी हमेशा ऊंचे धरातल से नीचे की ओर बहता रहता है, उसी प्रकार हमारा रक्त ऊंचे दबाव से कम दबाव की ओर बहता रहता है। फिर हृदय का क्या काम है? हृदय ही तो इस लौटे हुए दबावहीन

रक्त को लेकर अपने संकुचन से उसे उच्च दबाव पर मुख्य धमनी में छोड़ देता है।

इसकी तुलना हम सहजता से बच्चों की फिसल-पट्टी से कर सकते हैं। दोनों चित्रों को देखकर इस समानता को समझने का प्रयास कीजिये।

हम यह भी जान सकते हैं कि जिस रक्त-चाप को आज तक साधारण व्यक्ति एक बीमारी समझने लगे हैं, वास्तव में वह हमारे शरीर का एक अत्यन्त आवश्यक गुण है। बिना रक्तचाप के शरीर में रक्त का संचार ही नहीं होगा, कोशिकाओं को ऑक्सीजन और भोजन पहुंचना बन्द हो जायेगा जिसके फलस्वरूप 4-5 मिनट में मृत्यु निश्चित है। हां इस रक्तचाप का अत्यधिक हो जाना (उच्च रक्त-चाप, हाईपरटेन्शन) खतरनाक है और इसका सही उपचार करना चाहिये।

सामान्य वयस्क व्यक्ति का रक्त-चाप करीबन 120/80 मि.मी. पारा होता है। यानी हृदय जब संकुचन कर रक्त को धमनी में पम्प करता है उस समय रक्तचाप 120 मि.मी. तक बढ़ जाता है और जब हृदय-पम्प काम करना बन्द कर वापस भरने के लिए रुकता है तो धमनियों में दबाव गिरकर 80 मि.मी. तक आ जाता है।

चिकित्सक 120 को सिस्टोलिक प्रेशर व 80 को डायस्टोलिक प्रेशर कहते हैं। सिस्टोलिक प्रेशर हृदय की पम्प करने की शक्ति दर्शाता है और डायस्टोलिक प्रेशर धमनियों के लचीलेपन को। महिलाओं में यह दबाव पुरुषों से कुछ कम होता है और छोटे बच्चों में तो 90/60 ही। वैसे यह भी हम आसानी से समझ सकते हैं कि शरीर जितना विशाल होगा, उसके हर भाग में रक्त पहुंचाने के लिये उतने ही अधिक रक्तचाप की आवश्यकता होगी। तभी तो चूहे में 70, हम में 120 और घोड़े में 200 मि.मी. के लगभग रक्तचाप होता है।

शरीर में रक्त वितरण और शहर में पानी की सप्लाई दोनों समान भौतिक नियमों द्वारा नियंत्रित होती हैं। इसीलिये एक के अध्ययन को

हीमोडायनेमिक्स (हीमा = रक्त) व दूसरे को हाइड्रोडायनामिक्स (हायड्रो = पानी) कहते हैं। अब सोचिये कि किसी प्राणी का जितना बड़ा शरीर है, उसका रक्तचाप उतना ही अधिक है। जितने बड़े क्षेत्र में हमें पानी सप्लाई करना है हम उतनी ही ऊँची टंकी बनाते हैं। दोनों में क्या समानता है?

नलियों में किसी भी द्रव्य के बहाव के बारे में एक महत्वपूर्ण तथ्य पिछली शताब्दी में पोईस्यूल ने ज्ञात किया था। नली के अर्धव्यास को अगर दुगुना कर दिया जाये, तो उसमें पानी का बहाव 8 गुना बढ़ जायेगा। (बहाव αr^4) मान लीजिये आपके घर में 2 सेमी. के पाइप से पानी आता है। आप जलप्रदाय विभाग के अपने किसी मित्र इंजीनियर से कहें कि मेरे नल का कनेक्शन 2 सेमी. के बजाय 4 सेमी. का लगा दो ताकि पानी की कोई कमी न रहे, तो वह कदापि ऐसा नहीं करेगा। क्योंकि वह जानता है कि दुगुनी चौड़ाई का पाइप लगाने से आपका पानी दुगुना नहीं होगा, वह तो 8 गुना बढ़ जायेगा, और आपके सब पड़ोसी पानी के लिये तरसने लगेंगे। इसीकारण शरीर में हमारी धमनियों की चौड़ाई को थोड़ा सा कम-ज़्यादा करके ही हमारे रक्तचाप व किसी भी अंग में रक्त की सप्लाई को बड़ी कुशलता से नियंत्रित किया जाता है। जब आप हॉकी खेल रहे हैं, या किसी दौड़ में भाग ले रहे हैं, तो आपका सामान्यतः 120/80 रहने वाला रक्तचाप काफी बढ़ जायेगा ताकि रक्त संचार खूब तेजी से हो। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि हमारी, धमनियाँ स्टील या प्लास्टिक की सख्त नलियों जैसी नहीं हैं। इनमें लचीलापन है और उनकी दीवार में स्थित मांस-पेशियों के कारण वे आवश्यकतानुसार सिकुड़ या फैल भी सकती हैं। यदि हमारी धमनियों के स्थान पर स्टील के पाइप लगे होते तो क्या ये अस्सी या सौ वर्षों तक बिना जंग खाए, बिना टूटे काम दे सकते?

कई बार बढ़ती आयु के साथ तथा कई दूसरे कारणों, जैसे सिगरेट

पीना, तम्बाकू खाना, मोटापा, बहुत अधिक नमक खाना, मानसिक अशांति, शारीरिक मेहनत का अभाव आदि से हमारा रक्तचाप बढ़ने लगता है, धमनियों का लचीलापन कम हो जाता है, वह सिकुड़ने लगती हैं। इसी को उच्च रक्तचाप या हाईपरटेन्शन कहेंगे जो आज एक आम बीमारी हो गई है। प्रकृति ने हमारी धमनियों को एक विशेष दबाव सहन करने के लिये ही बनाया है। अगर उनमें दबाव बराबर बहुत ऊँचा रहे तो उनकी दीवार पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। उच्च रक्तचाप के फलस्वरूप अन्त में हमारे 3 प्रमुख अंग क्षतिग्रस्त हो जायेंगे : मस्तिष्क, हृदय और गुर्दे। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि रक्तचाप जरा सा ऊंचा नापा गया और हमें दवाई ही लेनी पड़े। नहीं, पहले तो यह देखना चाहिए कि कहीं हमारे रहन-सहन और दिनचर्या में कोई ऐसा कारण तो नहीं जो रक्तचाप पर बुरा प्रभाव डाले!

मानव हृदय को अगर मध्य से काट लिया जाए तो दायें-बायें अलिंद और निलय और उनके मध्य स्थित कपाटिकाएँ कैसी दिखती हैं चित्र में यही दिखाया गया है।

हृदय के इन दो भागों की जगह अगर आप दो साधारण रोलर पम्प ले लें तो हृदय का पूरा काम कर सकते हैं। दायें अलिंद में दो महाशिराओं द्वारा अशुद्ध रक्त आता है जो दायें निलय द्वारा एक महाधमनी से फेंफड़ों में शुद्धिकरण के लिये भेज दिया जाता है और एक महाशिरा शरीर के निचले भाग से। दोनों महाशिराएँ दायें अलिंद में खुलती हैं।

दायें अलिंद और निलय में अगर हम चाहें कि रक्त न जाये तो एक काम करना होगा। ऊपरी (ऊर्ध्व) और निचली (अधो) महाशिरा में एक-एक प्लास्टिक की ट्यूब डालनी होगी। बस उनसे होता हुआ रक्त बाहर आ जायेगा और हृदय का दायाँ भाग बिलकुल खाली हो जायेगा।

शल्य चिकित्सक यही करते हैं। (चित्र 22) महाशिराओं से आने वाली इन नलियों को हम एक रोलर पम्प की नली से जोड दें और मोटर चालू कर दें तो रक्त आगे प्रसारित होने लगेगा। इसे शुद्धिकरण के लिये कृत्रिम फेंफड़े में भेजा जाता है। कृत्रिम फेंफड़े भी एक बड़ा साधारण सा उपकरण है। रक्त से भरा कांच का बर्तन जिसमें ऑक्सीजन बुलबुलों के रूप में छोड़ी जाती है। ऑक्सीजन के बुलबुलों से झाग न बनें इसके लिए विशेष व्यवस्था होती है।

फेंफड़ों से रक्त हृदय के बायें अलिंद और फिर निलय में आता है, लेकिन फेंफड़ों में रक्त आने ही नहीं दिया जा रहा है इसलिए हृदय का बायां भाग भी ख़ाली है।

हृदय के बायें भाग की जगह एक दूसरा रोलर पम्प कृत्रिम फेंफड़े से ऑक्सीकृत शुद्ध रक्त को आगे प्रसारित करता है, जो महाधमनी से होता हुआ सारे शरीर में पहुंच जाता है।

इस प्रकार रोलर पम्प और कृत्रिम फेंफड़ों की सहायता से बिना हृदय के भी शरीर का रक्त प्रवाह चालू रख सकते हैं। हार्ट-लंग-मशीन ऐसे ही रोलर पम्प और कृत्रिम फेंफड़े की बनी होती है, जिससे जटिल से जटिल हृदय के आपरेशन भी संभव हो सकते हैं।

हृदय के चारों कोष्ठ अब ख़ाली हैं। शरीर में रक्त का प्रवाह अब मशीन कर रही है। अब हृदय को बिना झिझक खोल सकते हैं—रक्त-स्राव का कोई डर नहीं।

एक कमी फिर भी रह गई। हृदय अब भी धड़क रहा है। इस धड़कते दिलपर काम कैसे करेंगे?

हृदय सारे शरीर में पोषक तत्व और आक्सीजन पम्प करता है। इसे अपने कार्य के लिए भी ईंधन चाहिए। लेकिन अपने कोष्ठों में भरे रक्त से हृदय पोषक तत्व नहीं ले सकता। महाधमनी के उद्गम के पास से दो कोरोनरी धमनियाँ निकलती हैं जो हृदय की सतह पर सूक्ष्म

शाखाओं में विभाजित होकर हृदय को आक्सीजन और पोषक तत्व-वितरित करती हैं। कोरोनरी का अर्थ होता है मुकुट और यह धमनियाँ हृदय पर मुकुट की तरह ही फैली होती हैं। ये धमनियाँ जितना महत्वपूर्ण कार्य हृदय और शरीर के लिए करती हैं, उसे देखते हुए इसका "मुकुट" से सुशोभित होना उचित ही है। इन्हीं कोरोनरी धमनियों के अवरुद्ध हो जाने से हार्ट अटैक होता है।

हृदय को आपरेशन के समय निश्चल करने के लिए ऐसी दवा जो मांसपेशियों का स्पंदन रोक सके, महाधमनी के उद्‌गम पर डाल देते हैं ताकि हृदय को रक्त पहुंचाने वाली कोरोनरी शाखाओं में वह चली जाये। तत्काल हृदय की धड़कन बन्द हो जाती है।

अब हृदय को खोलिये, जो ख़राबी हो उसे काट फेंकिये, उसकी जगह अगर कृत्रिम वाल्व लगाना हो तो लगाइये और बारीकी से सिलाई कीजिये, जब तक हार्ट-लंग मशीन चालू है डरने की आवश्यकता नहीं।

क्रिया प्रणाली के हिसाब से हृदय एक जोड़ी रोलर पम्प के बराबर है। लेकिन कार्य क्षमता और कार्य कुशलता में प्रकृति-निर्मित यह पम्प विलक्षण है :

वजन में मात्र 300 ग्राम, आकार में केवल दोनों मुट्ठियों के बराबर। एक मिनट में सामान्यतया 72 बार धड़कता है, यानी एक धड़कन 0.8 सेकिंड का समय लेती है इसमें 0.3 सेकण्ड आकुंचन (सिस्टोल) व 0.5 विस्तारन (डायस्टोल) होता है। अर्थ यह हुआ कि 0.3 सेकण्ड काम और उसके लगभग दुगुने समय 0.5 सेकिंड आराम। इस प्रकार दिन में हृदय लगभग 9 घंटे धड़कता है और 15 घंटे आराम करता है। यह जानकर आश्चर्य होगा कि भीमकाय व्हेल का हृदय एक मिनट में केवल छः बार धड़कता है जबकि छोटी सी चिड़िया का हृदय 1200 बार।

अब जरा इसकी कार्य-क्षमता देखिये। एक दिन में यह एक लाख से अधिक बार धड़कता है यानी हमारी औसत आयु (52 वर्ष) में अठारह अरब बार। इस दौरान इस द्वारा पम्प किये गये रक्त की मात्रा होती है बीस करोड़ लीटर। ज़रा कल्पना तो कीजिए एक 300 ग्राम के छोटे से पम्प की जिसे अगर यमुना के पानी से जोड़ दिया जाये तो अपने जीवन काल में इतना पानी फेंक सकेगा कि ताजमहल ही डूब जाये।

चित्र 23 : सामान्यतः हमारा हृदय 1 मिनट में 5 लिटर रक्त पम्प करता है, परन्तु शारिरिक परिश्रम करते समय यह 20 लिटर प्रति मिनट तक बढ़ सकता है।

अगर शरीर की सब 5 हज़ार करोड़ (5×10^{10}) रक्त वाहिनियों को आपस में लम्बा जोड़ दिया जाये और उनकी औसत लम्बाई को 1 मि.मी. मान लिया जाये तो यह कुल लम्बाई 50,000 किलोमीटर हो जायेगी। यानी एक साधारण व्यक्ति के शरीर में उतना ही रक्त वाहिनियों का जाल बिछा है जितना पूरे भारतवर्ष में रेल की पटरियों का (61,850 कि.मी.)। सौभाग्यवश इनमें से किसी एक समय में केवल 20 प्रतिशत वाहिनियाँ ही खुली रहती हैं अन्यथा रक्तचाप एकदम ही गिर जायेगा। कल्पना कीजिए कि शहर के सारे नल एक साथ खोल दिए जायें तो पानी के दबाव को क्या होगा।

इससे हम यह भी आसानी से समझ सकते हैं कि मोटापे का हृदय पर कैसे और कितना प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। हालांकि चर्बी में

मांसपेशियों की अपेक्षा रक्तवाहिनियाँ काफी कम होती हैं, फिर भी प्रति किलोग्राम अधिक चर्बी के कारण हृदय को कितनी ही किलोमीटर लम्बी वाहिनियों में रक्त भेजने का अतिरिक्त काम करना पड़ेगा।

ख़ैर! आइए, देखिये शल्य चिकित्सक हृदय का आपरेशन पूरा करके अब क्या कर रहे हैं। उन्होंने एक उपकरण से हल्का सा बिजली का झटका हृदय को दिया और हृदय खटाखट फिर धड़कना चालू हो गया। हृदय की मांसपेशियों की यह एक विशेषता है। अपने धड़कने के लिए यह संकेत स्वयं ही उत्पन्न करता है। मस्तिष्क या अन्यत्र कहीं से आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं होती। आप अपने दिल के राजा हैं, तो आपका दिल भी अपना राजा है।

जिस तरह आधुनिक घड़ियों में बैटरी कार्य करती हैं, उसीप्रकार हृदय के दायें अलिंद में नन्हीं सी बिन्दी के बराबर एक तन्तु होता है जिसे "साईन-एट्रियल नोड" कहते हैं। इस तन्तु में औसतन प्रति मिनट 72 बार विद्युत संकेत उत्पन्न होते हैं। जिसके फलस्वरूप हृदय धड़कता है। हृदय एक मिनट में कितनी बार धड़केगा यह इस तन्तु में उत्पन्न विद्युत संकेतों पर निर्भर करता है। इसीलिए साईन-एट्रियल नोड को पेस-मेकर भी कहते हैं। पेस-मेकर की गड़बड़ी होने पर हृदय की गति और लय गड़बड़ा जाती है, जिससे कभी तो मरीज़ की जान भी ख़तरे में पड़ जाती है। आवश्यक होने पर डाक्टर आजकल बैटरी से चलने वाले एक उपकरण को हृदय पर लगा देते हैं, जिससे उत्पन्न विद्युत संकेत हृदय को चालू रखते हैं। इसे 'कार्डियाक पेस-मेकर' कहते हैं। इन्हें लगाने की सुविधा अब देश के सभी बड़े अस्पतालों में उपलब्ध है।

हां, तो हृदय फिर धड़कने लगा। लेकिन इसमें रक्त तो है ही नहीं। रक्त-प्रवाह तो हार्ट-लंग मशीन से हो रहा है। अब जो नलियाँ महाशिराओं व महाधमनी में डाली थीं, उन्हें निकाल दें और मशीन

बन्द कर दें तो हृदय कोष्ठ फिर रक्त से भर जायेगा और यह अपना काम फिर चालू कर देगा।

अगर हृदय की हर धड़कन का आरम्भ एक छोटे से बिजली के संकेत से होता है तो क्या हम इस विद्युत संकेत को बाहर से अंकित कर सकते हैं? क्या इससे हमें हृदय के कार्य के बारे में कुछ महत्वपूर्ण जानकारी मिल सकती है? हृदय की बीमारियों का पता चल सकता है?

इन्हीं प्रश्नों से प्रेरित होकर इस शताब्दी के आरम्भ में विलहम आईनथोवन ने हृदय की इन विद्युत तरंगों का अध्ययन किया। लेकिन हमारे शरीर की गहराई में बन्द हृदय से आ रही इतनी क्षीण विद्युत तरंगों को त्वचा के बाहर से रिकार्ड करना कोई आसान काम नहीं था। अन्त में एक बहुत ही संवेदनशील स्ट्रिंग गेलवेनोमीटर की सहायता से यह सम्भव हो सका। हृदय की धड़कन की इस विद्युतीय तस्वीर को अब इलेक्ट्रो-कार्डीयोग्राम कहते हैं। जीव-विज्ञान के मौलिक अनुसंधान से लेकर हृदय रोगों की पहचान में इसका व्यापक उपयोग हो रहा है। इस महत्वपूर्ण कार्य के लिये आइनथोवन को 1924 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। बेलजियम जैसे छोटे देश के लिए यह बहुत ही गर्व की बात थी।

अब तो यह विधि इतनी विकसित हो गई है कि चांद पर खड़े नील आर्मस्ट्रोंग की ई०सी०जी० को पृथ्वी पर रखी मशीन से रिकॉर्ड किया जा सका था।

□□

6

मस्तिष्क के रहस्यों की खोज

किसी सुहावने दिन यदि बाग में चलकर रंग-बिरंगे फूलों की क्यारियों के पास खड़े हो जाएं, तो हम देखेंगे कि कई मधुमक्खियाँ इधर-उधर उड़कर इन फूलों से पराग एकत्रित कर रहीं हैं। यही पराग बाद में हम शहद के रूप में खाते हैं। लेकिन थोड़ी देर के लिये हम अपना ध्यान एक ही मधुमक्खी पर केंन्द्रित करें तो एक महत्वपूर्ण बात सामने आएगी। मधुमक्खी की भी अपनी अनोखी पसन्द है। वह एक विशेष रंग या गंध वाले फूल पर ही जाती है। छत्ते से लौटने पर उसे याद रहता है कि उसके मनपसन्द फूलों की क्यारी किधर है। तो क्या अपने बस 1 मिग्रा. भार के नन्हें से मस्तिष्क से मधुमक्खी भी हमारी तरह सोच सकती है, याद रख सकती है, नई बातें सीख सकती है?

इसी कौतूहल से प्रेरित होकर 20वीं शताब्दी के आरम्भ में कार्ल-वॉन फ्रिश ने जर्मनी में बड़े रोचक प्रयोगों को करना प्रारम्भ किया। एक गोल टेबल पर विभिन्न रंगों की प्यालियों को जमा दिया गया। उनमें से केवल एक में शहद रखा था। फिर मधुमक्खियों के एक झुण्ड को टेबल पर आने दिया गया। तीन-चार बार अवसर मिलने पर ही मधुमक्खियों ने समझ लिया कि केवल नीली प्याली में ही शहद है,

बाक़ी सब बेकार हैं। अब चाहे वह नीली प्याली खाली हो या भरी, या टेबल पर कहीं भी रखी हो, मधुमक्खियाँ सीधे उसीपर जाकर बैठती थीं। फ्रिश ने फिर बहुत गहराई से कई प्रयोग करके मधुमक्खियों की मानसिक क्षमता का अध्ययन किया। आज हम अच्छी तरह जानते हैं कि मधुमक्खी का मस्तिष्क चाहे एक पिन की घुण्डी के बराबर ही हो, पर उसमें रंगों को पहचानने, फूलों से सम्बन्धित सभी तथ्यों को अपनी स्मृति में एकत्रित रखने, व उसके आधार पर नई परिस्थिति में सही निर्णय लेने की अद्‌भुत क्षमता है।

तो क्या मधुमक्खी भी बिलकुल हमारी तरह ही सोचती है, अनुभव करती है, सीखती है? क्या मस्तिष्क की कार्यक्षमता अलौकिक है? हमारे भौतिक माप-तोलों और नियमों से परे? कितना अन्तर है एक छोटे चूहे और एक विशाल हाथी के मस्तिष्क में? और फिर स्वयं हमारा मस्तिष्क क्या बिलकुल भिन्न, अनोखा और अद्वितीय है? परन्तु इससे पहले कि हम इन दिलचस्प और महत्वपूर्ण प्रश्नों में उलझें, हमें यह देखना चाहिये कि मस्तिष्क आखिर है क्या! उसकी आन्तरिक संरचना क्या है! किसी भी मशीन को अच्छी तरह समझने से पहले यह आवश्यक है कि हम उसे खोलें और उसके अन्दर झांककर उसके विभिन्न कल-पुर्ज़ों को पहचानें। तो आइये यही प्रक्रिया हम अपने मस्तिष्क के साथ आरम्भ करते हैं।

यदि हम किसी मनुष्य को ऑपरेशन टेबल पर बेहोश करके एक आरी से धीरे-धीरे उसकी खोपड़ी के ऊपरी भाग को काटकर अलग कर दें, तो हम अन्दर झांककर स्वयं अपनी आंखों से जीवित मस्तिष्क को देख सकते हैं। न्यूरो-सर्जन इसीप्रकार आरी व ड्रिल से खोपड़ी की हड्डियों को काटकर मस्तिष्क का ऑपरेशन करते हैं। करीब 1.2 से 1.5 किलोग्राम भार का हमारा मस्तिष्क भूरे रंग के मुलायम पदार्थ का बना प्रतीत होता है। बहुत कुछ वैसा ही जैसे अखरोट को तोड़ने पर उसके

अन्दर की गिरी। परन्तु हम घण्टों तक देखते ही रहें फिर भी कहीं कोई आभास नहीं मिलता कि आखिर मस्तिष्क में हो क्या रहा है। न कोई पुर्जों की हलचल, न कोई विद्युत संकेतों की चमक; न कोई स्विच-बोर्ड या मीटरों की कतारें। फिर यह मस्तिष्क कैसे सारे शरीर की क्रियाओं पर प्रतिपल नियन्त्रण रख रहा है? मस्तिष्क की सहायता या सृजन-क्षमता के द्वारा ही आईनस्टाइन तथा सी० वी० रमन, टैगोर और शेक्सपीयर ने अपने अत्यन्त मौलिक और अनूठे विचारों का सृजन किया था। दिखने में कितना सरल, पर कार्य-क्षमता में कितना अद्‌भुत!

इस रहस्य को समझने के लिए हम मस्तिष्क के एक छोटे से टुकड़े को अब माइक्रोस्कोप के नीचे देखें। बहुत कुछ उसीतरह जैसे आज से करीबन सौ वर्ष पहले स्पेन के एक छोटे से शहर में सैनटियागो रैमों काहल ने देखना आरम्भ किया था। बड़े धैर्य के साथ काहल विभिन्न प्राणियों के मस्तिष्क की असंख्य पतली-पतली परतें काटते और उन्हें कई रासायनिक घोलों में डुबाते। फिर एकाग्रचित हो घन्टों तक अकेले उनका माइक्रोस्कोप के नीचे अध्ययन करते रहते। जो संरचना पहले कोशिकाओं व तंत्रिकाओं का एक घना, रहस्यमय जंगल सा लगता था, अब इन प्रक्रियाओं के बाद
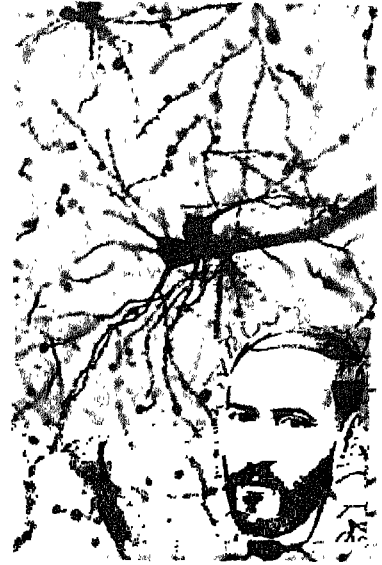
चित्र 24 : सेनटियागो काहल व मस्तिष्क में तंत्रिकाओं का जाल जिसका अध्ययन करने में वह सबसे अग्रणी थे।

उसमें कुछ व्यवस्था नज़र आने लगी। वर्षों के अथक परिश्रम से काहल ने अपना "न्यूरोन-सिद्धांत" प्रतिपादित किया जो मस्तिष्क की रचना का मूलभूत आधार है। 1906 में मानव मस्तिष्क के महान अन्वेषक सैनटियागो रैमों काहल को नोबेल पुरस्कार दिये जाने की घोषणा की गई। परन्तु एक छोटे से गांव में जन्मे, अंग्रेजी भाषा से बिलकुल अनभिज्ञ और ऋषियों सा सरल जीवन बिताने वाले डॉ० काहल बड़े संकोच और दुविधा में पड़ गये। अन्ततः उन्होंने इसे स्पेन का सम्मान समझकर ही स्वीकार किया। 12 दिसम्बर, 1906 को स्टोकहोम में दिये गए अपने नोबेल लेक्चर में भी उन्होंने बार-बार अपने सहयोगियों तथा दूसरे वैज्ञानिकों की प्रशंसा करके विनम्रता का एक अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया।

काहल की तरह हम भी आज मस्तिष्क के किसी भाग का माईक्रोस्कोप से परीक्षण करें तो देखेंगे कि वह मुख्यतः एक ही प्रकार की कोशिका से बना है: नर्व-सेल, न्यूरोन या तंत्रिका-कोशिका। हमारा मस्तिष्क वास्तव में ऐसी दस हज़ार करोड़ (10^{11}) स्नायु-कोशिकाओं का एक जटिल समूह ही है। छोटी सी मधुमक्खी का मस्तिष्क भी इन्हीं कोशिकाओं से बना है। हाँ, उनकी संख्या केवल 8 लाख के लगभग है। लगता है इन तंत्रिका-कोशिकाओं को आपस में जोड़-जोड़ कर कैसा भी मस्तिष्क बनाया जा सकता है, जैसे बच्चे प्लास्टिक या लकड़ी के ब्लॉक जोड़कर तरह-तरह के घर बनाते हैं।

मस्तिष्क की यह इकाई—न्यूरोन या तंत्रिका-कोशिका—अपने में स्वतंत्र और सम्पूर्ण है। इसके मुख्य भाग में सभी जीवन-क्रियाएं होती रहती हैं और एक छोटा सा केन्द्रक या न्युक्लियस उन सब का वैसे ही संचालन करता रहता है, जैसा कि किसी भी साधारण कोशिका में। परन्तु एक विशेषता अवश्य है। हर तांत्रिका-कोशिका की एक लम्बी पूंछ

होती है। कुछ में यह पूंछ 1/100 मि.मी. जितनी छोटी होती है, तो औरों में 1000 मि.मी. या 1 मीटर जितनी लम्बी। यही पूंछ या "एक्सोन" एक पतले तार की तरह विद्युत संकेतों को लाने-ले-जाने का काम करती है। परिणामस्वरूप, हर तंत्रिका-कोशिका अपने में स्वतंत्र होते हुए भी एक्सोन और उसकी शाखाओं द्वारा सैकड़ों दूसरी तंत्रिका-कोशिकाओं से सम्पर्क बनाए रखती है। परन्तु एक अच्छी टेलीफोन व्यवस्था के लिये यह आवश्यक है कि तार एक दूसरे में न उलझ जाएं, वरना हमें "रॉंग-नम्बर" ही मिलता रहेगा। साथ ही इन तारों को वातावरण के प्रभाव से भी सुरक्षित रखना चाहिये। इसीलिये अधिकांश बड़े एक्सोन पर एक वसा की परत (मायलीन) चढ़ी रहती है और उसके बाहर एक सुरक्षात्मक झिल्ली (श्वान-शीथ)। अब एक्सोन ने एक तंत्रिका का रूप ले लिया है। इस तंत्रिका और एक बिजली के तार में कितनी समानता है यह हम पहले ही देख चुके हैं (अध्याय 1), और यह भी कि इनमें सन्देश किस प्रकार प्रसारित होते हैं।

काहल को जिस बात ने सबसे अधिक आश्चर्यचकित किया वह थी इन तंत्रिका-कोशिकाओं की आपस में सम्पर्क विधि। कोशिकाओं की इस भारी भीड़ में भी एक कोशिका वास्तव में किसी दूसरी कोशिका को छूती नहीं है। एक का एक्सोन दूसरी कोशिका के बिलकुल पास जाता हुआ तो दिखाई देता है पर दोनों के बीच हमेशा एक निश्चित दूरी रह जाती है। काहल ने इन सम्पर्क-स्थलों का बड़ी बारीकी से अध्ययन किया, जिन्हें बाद में इंग्लैंड के सर चार्ल्स शेरिन्गटन ने "सिनैप्स" का नाम दिया। दूरी करीबन 20-30 नैनोमीटर की ही होती है, पर होती अवश्य है। या यूं कहें कि सम्पर्क स्थल पर दो कोशिकाएं अभिवादन में हाथ नहीं मिलाती हैं, बल्कि शिष्टाचार से कुछ दूर रहकर केवल नमस्ते करती हैं। तो फिर सूचना या संकेत एक कोशिका से दूसरी कोशिका में

कैसे पहुंचते हैं? इस सिनेप्स में दूत का काम करते हैं कुछ विशिष्ट रासायनिक पदार्थ या ''न्यूरो-ट्रान्समीटर''। ओटो लोइवी और सर हेनरी डेल के इस महत्वपूर्ण आविष्कार और ''एसीटाईल-कोलीन'' की खोज की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं जिसके लिये उन्हें 1936 में नोबेल पुरस्कार दिया गया था।

यह सारी व्यवस्था हमें कुछ अटपटी और अजीब लग सकती है, क्योंकि यह हमारे सामान्य जीवन के अनुभव से मेल नहीं खाती। हम रोज़ घर में कितने ही बिजली के उपकरण काम में लेते हैं। विद्युत प्रवाह के लिये बस प्लग को सॉकेट में डालना होता है, या दो तारों को आपस में कसकर गूंथ देना, या तार को उपकरण से सोल्डर कर देना होता है। उसी क्षण हमारा बल्ब, पंखा, टेलीविजन, या कुएं पर लगा पम्प चलने लगता है। कहीं तार ज़रा सा ढीला रह गया तो काम बिगड़ जायेगा। पर हमारे मस्तिष्क में बात उल्टी ही प्रतीत होती है। हर दो तंत्रिका-कोशिकाओं के बीच एक खाई जान-बूझ कर छोड़ दी गई है, जिसे विद्युत-धारा कूदकर पार नहीं कर सकती, उसे सहायता लेनी पड़ती है एक रासायनिक दूत (केमीकल-मैसेन्जर) की और तभी संकेत आगे बढ़ पाता है।

अब हम यह जानना चाहेंगे कि आखिर मस्तिष्क की विद्युतीय संचार व्यवस्था में यह रासायनिक पदार्थों का हस्तक्षेप क्यों? इससे क्या लाभ हो सकता है? प्रश्न वास्तव में बहुत ही रोचक और महत्वपूर्ण है। कुछ गहराई से चिन्तन करें तो एक बात यह सामने आती है कि इस व्यवस्था से संकेत केवल एक दिशा में चलेंगे, उल्टे-पुल्टे नहीं। हर सिनेप्स एक दिशा निर्देश देता है, क्योंकि रासायनिक पदार्थ एक्सोन के छोर से ही निकल सकता है। वैसे स्वयं एक्सोन में तो तार की तरह विद्युत प्रवाह दोनों दिशाओं में बराबर हो सकता है। परन्तु हर सिनेप्स

पर दिशा निर्धारित हो जाती है, क्योंकि खाई को पार कर सकने वाला रासायनिक-दूत एक्सोन के छोर में है, अगली कोशिका के शरीर में नहीं। इसलिए संकेत उल्टी दिशा में सिनेप्स की खाई को कभी पार नहीं कर सकते। बिना इस दिशा निर्देश के तो मस्तिष्क की करोड़ों कोशिकाओं के बीच दोनों दिशाओं में दौड़ते हुए संकेत बिलकुल अव्यवस्था पैदा कर देंगे।

दूसरा लाभ यह है कि इस रासायनिक प्रक्रिया से हर सिनेप्स पर कुछ विलम्ब उत्पन्न हो जाता है—लगभग एक सेकण्ड का हज़ारवाँ भाग या 1.0 मिली सेकण्ड! इसप्रकार संकेतों को समय में क्रमबद्ध किया जा सकता है। जिस तंत्रिका पथ या न्युरोनल-सर्किट में जितने अधिक सिनेप्स होंगे, उतना ही धीरे उसमें संचार होगा। जैसे मानलें कि दिल्ली से मद्रास के लिये दो रेलगाड़ियाँ एक साथ रवाना होती हैं, और दोनों समान गति से चलती हैं। परन्तु एक हर स्टेशन पर रुकने वाली हो और दूसरी कहीं न रुके तो मद्रास पहुँचते-पहुँचते उनमें बहुत अन्तर हो जायेगा। वहाँ दोनों का बिना किसी कठिनाई के अलग-अलग स्वागत किया जा सकेगा। बीच में स्टेशनों या सिनेप्स की संख्या निर्धारित करके हम उन्हें क्रमबद्ध कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त हर जंक्शन रूपी सिनेप्स पर हमारी संकेत-रेल को विभिन्न रास्ते चुनने का अवसर मिलता है। एक पटरी पर दौड़ती हुई गाड़ी के लिये तो कोई विकल्प ही नहीं है, पर ज्यूं ही कोई जंक्शन आया, गाड़ी दो-तीन अलग-अलग रास्तों में से किसी एकपर जा सकती है। मस्तिष्क में जहाँ 10^{14} सिनेप्स हैं (भारत में कुल रेलवे जंक्शनों से 10 अरब गुना अधिक) इसकी संभावनाऐं एक तरह से अनन्त और असीमित हैं। शायद यही हमारी मौलिकता, कल्पना-शक्ति, या कलात्मक वस्तुएं बनाने की प्रेरणा का रहस्य है। पिछले 5 हज़ार वर्षों से हम रेखाऐं खींच रहे हैं, रंग भर रहे हैं, परन्तु

चित्र बनाने की संभावनाऐं कहीं खत्म होती नज़र नहीं आतीं। एक बच्चे द्वारा बनाया गया साधारण प्राकृतिक दृश्य भी अपने अनूठेपन से हमेशा हमें आकर्षित करता है, चाहे मानव मस्तिष्क ने उसी दृश्य को पहले भी लाखों बार कागज़ पर उतारा है, पर क्या एक कैमरे में ऐसी सम्भावना है?

सिनेप्स का एक उपयोग और भी है। एक रासायनिक पदार्थ के बीच में आने से हम मस्तिष्क की संचार-व्यवस्था में आसानी से हस्तक्षेप कर सकते हैं। इन रासायनिक पदार्थों को 'दवा' या 'औषधि' कहते हैं। आज डाक्टरों द्वारा दी जाने वाली कितनी ही दवाऐं—जैसे बेहोश करने के लिए ऐनेस्थेटिक, नींद व शान्ति के लिये ट्रैंक्वीलाईजर तथा कई नशीले पदार्थ इन्हीं सिनेप्सों को प्रभावित करते हैं। इन दवाओं का कार्य-स्थल स्वयं तंत्रिका-कोशिका न होकर सिनेप्स क्यों हैं, यह समझना अब कठिन नहीं होगा। इसीलिये इन दवाओं का प्रभाव मस्तिष्क के उन्हीं भागों में अधिक होता है जहां सिनेप्स का घना जाल है।

अब हम अपने मूल प्रश्न का एक सीमित उत्तर तो दे ही सकते हैं। मस्तिष्क क्या है? कई हज़ार करोड़ कोशिकाओं और उनके बीच आपसी सम्पर्क की एक अन्तहीन भूल-भुलइया। हर कोशिका स्वयं एक इकाई के रूप में तो बिलकुल सरल प्रतीत होती है, पर हज़ारों करोड़ कोशिकाओं का जटिल समूह आपस में मिलकर असीमित सम्भावनाओं को जन्म देता है। शायद यही हमारी बुद्धि, चेतना और स्मृति का भौतिक आधार है।

रचना की दृष्टि से हम मस्तिष्क को कई भागों में बांट सकते हैं। शरीर के एक छोर पर हड्डियों के गोल डिब्बे में बन्द होने के कारण मस्तिष्क का शरीर के सब सुदूर भागों से सीधा सम्पर्क रखना आसान नहीं है। स्थान की कमी तो है ही, पर यदि सभी छोटी-बड़ी बातों का

मस्तिष्क स्वयं ही ध्यान रखे तो उसके लिए काम भी बहुत अधिक हो जायेगा। इसलिये मस्तिष्क से जुड़ी हुई एक लम्बी विस्तार-शाखा के रूप में हमारी सुषुम्ना या स्पाइनल-कॉर्ड का बहुत महत्व है। यह गर्दन से पीठ के नीचे तक एक सफेद मोटी रस्सी की तरह रीढ़ की हड्डी में सुरक्षित है। बराबर अन्तराल पर, दोनों तरफ इसमें से 31 तंत्रिकाएं निकल कर दायें-बायें, सारे शरीर में पेड़ की शाखाओं की तरह फैल जाती हैं। इन्हीं 31 तंत्रिकाओं या स्पाइनल-नर्व के माध्यम से सुषुम्ना का सारे शरीर से सम्पर्क बना हुआ है। प्रतिपल हमारी सुषुम्ना को त्वचा व अन्य अंगों से सूचनाएं मिल रही हैं, और प्रतिपल वह हमारी मांसपेशियों को उचित आदेश भेजती रहती हैं। इसके आधार पर सुषुम्ना बहुत से सामान्य कार्य तो स्वयं ही निबटा देती है, मस्तिष्क को हर बात के लिये परेशान नहीं करती। जैसे, यह हमारी मांसपेशियों में उचित तनाव बनाए रखती है ताकि हम सीधे खड़े रह सकें। अगर एक क्षण के लिए भी सुषुम्ना इन मांसपेशियों को ढ़ीला छोड़ दे तो हमारे 50-60 किलोग्राम भार के मारे हमारे घुटने, कमर आदि सभी एकदम मुड़ जाएंगे और हम चारों खाने चित्त! साथ-साथ शरीर की रक्षा के लिये प्रथम कार्यवाही करने की ज़िम्मेदारी भी सुषुम्ना की ही है। अकस्मात अंगुली में पिन चुभते ही हम हाथ खींच लेते हैं। यह "प्रतिवर्ती-क्रिया" या "रिफ्लेक्स एक्शन" सुषुम्ना के स्तर पर ही होती है। हमें लगता है
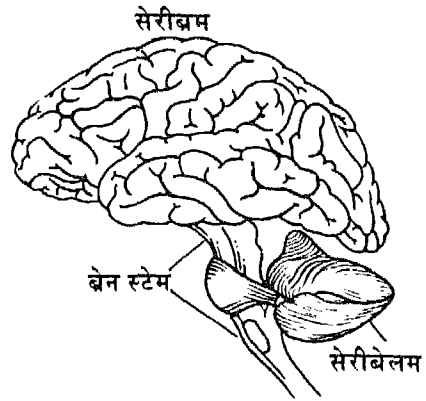
चित्र 25 : मानव मस्तिष्क के मुख्य भाग।

जैसे हाथ अपने आप ही हट गया। हम कुछ सोचें, कुछ तय करें, उससे पहले ही। तंत्रिका मण्डल की कार्य प्रणाली का सबसे सरल और मूल उदाहरण यह प्रतिवर्ती-क्रिया ही है।

इस सबके अलावा सुषुम्ना का मुख्य उपयोग तो एक राजमार्ग की तरह है : मस्तिष्क और शरीर के विभिन्न अंगों के बीच संकेतों का सारा काफिला इसी सुषुम्ना से होकर गुज़रता है। इसीलिये इसमें ज़रा सी चोट लग जाने के परिणाम भीषण हो सकते हैं। लेकिन अभी तो हम सुषुम्ना से ऊपर की ओर बढ़ते हुए मस्तिष्क में पहुंचें।

सिर के अन्दर प्रवेश करते ही मस्तिष्क आरम्भ हो जाता है। या यूं कहें कि सुषुम्ना मस्तिष्क में परिवर्तित हो जाती है। देखने पर ऐसा प्रतीत होता है जैसे मस्तिष्क एक मज़बूत डंठल या टहनी पर टिका हुआ बहुत बड़ा अखरोट हो। इसीलिये हम मस्तिष्क को 2 भागों में बांट सकते हैं। एक यह सीधा डंठल या "ब्रेन-स्टेम" है और दूसरा उसपर रखा हुआ मुख्य भाग या सेरीब्रम (प्रमस्तिष्क) है। वैसे तो ब्रेन-स्टेम सुषुम्ना के ही अनुरूप लगता है, और है भी उसी की सीध में, पर ध्यान से देखें तो यह 3 भागों में बंटा है। सबसे निचला भाग मेडुला-ऑबलोगेंटा है—दिखने में छोटा-सा और साधारण, पर महत्व में अतिविशिष्ट। इसी में वह अलग-अलग केन्द्र हैं जो हमारी आन्तरिक जीवन क्रियाओं का संचालन करते हैं। जैसे, सांस लेना, हृदय की धड़कन, रक्तचाप का नियंत्रण, भोजन का पचना इत्यादि। इसीलिये मेडुला में अचानक झटका या चोट लगने से एक पल में मृत्यु हो सकती है। पर इसमें घबराने की कोई बात नहीं। प्रकृति ने इस महत्वपूर्ण नियंत्रण-कक्ष को सिर के बीच बहुत सुरक्षित स्थान पर रखा है। पर हां, कभी-कभी स्कूटर या कार दुर्घटना में गर्दन पर ज़ोर का झटका लगता है, और मेडुला क्षतिग्रस्त होकर अपना काम करना बन्द कर देता है। मामूली सी दिखने वाली चोट,

तत्काल मृत्यु का कारण बन जाती है। अपराधियों को फांसी देने पर भी यही होता है।

मेडुला ही 12 में से 7 कपाल-तंत्रिकाओं (क्रेनियल-नर्व) का उद्गम स्थल भी है। यह प्रमुख तंत्रिकाएं चेहरे, जीभ, गले, कंधे आदि की मांसपेशियों का संचालन करती हैं, कान से ध्वनि-संकेतों को लाती हैं, और कई आन्तरिक अंगों का नियंत्रण करती हैं।

मेडुला ऑबलोन्गेटा से ऊपर चलें तो पोन्स और फिर मिड-ब्रेन आते हैं। मिड-ब्रेन व पोंस मुख्यतया जंक्शन का काम करते हैं। एक तरह से यहां तंत्रिकाओं की मुख्यधारा या राजपथ से कई छोटी शाखाएं निकलती हैं। ऐसी ही 3 शाखाएं ब्रेन-स्टेम के पीछे स्थित सेरीबेलम (अनु-मस्तिष्क) को जाती हैं। सेरीबेलम एक कुशल कंप्यूटर की तरह दो बहुत महत्वपूर्ण काम करता है। प्रथम तो इसी की सहायता से हम केवल दो पैरों पर खड़े रहकर भी अपना संतुलन बनाए रखते हैं। भागते, दौड़ते, कलाबाज़ियां खाते, आगे-पीछे झुकते हुए भी गिरते नहीं। दूसरे, यह सेरीबेलम ही हमारी एच्छिक क्रियाओं को बहुत बारीकी से व्यवस्थित करता रहता है। एक तरह से उनका "फाइन एडजस्टमेंट" करता है। पण्डित रविशंकर का मग्न होकर सितार बजाना, बिरजू महाराज के पैरों द्वारा कत्थक की बारीकियाँ प्रस्तुत करना या अतीत में ध्यानचन्द द्वारा अपनी हॉकी (स्टिक) के जादू से गेंद को इधर-उधर नचाना—यह सब कमाल वास्तव में सेरीबेलम का ही है। तालियाँ सेरीबेलम के लिये ही बजनी चाहिये, क्योंकि उसी के कारण हमारी सैकड़ों छोटी-बड़ी मांसपेशियाँ एक साथ इतने सुन्दर और सन्तुलित ढंग से काम कर सकती हैं। आश्चर्य की बात यह है कि हमें इस सबका कोई आभास नहीं। एक स्वचालित मशीन की तरह सेरीबेलम चुपचाप हम जो भी काम करना चाहते हैं उसे एक सुन्दर, कलात्मक लय प्रदान करता है।

हमने पहले 12 क्रेनियल-नर्व का उल्लेख किया है, जिनमें से 7 का उद्गम मेडुला से था। इसीप्रकार 4 और पोंस तथा मिड-ब्रेन से निकलती हैं। इनका काम है आंखों को इधर-उधर घुमाने वाली मांसपेशियों का संचालन करना व चेहरे से संवेदनाएं ले जाना।

अब हम ब्रेन-स्टेम को पार करके मस्तिष्क के सबसे विशाल और प्रमुख भाग में पहुंचते हैं—सेरीब्रम या प्रमस्तिष्क। इस रेखा को पार करते ही एक बहुत महत्वपूर्ण अन्तर अनुभव होने लगता है। हम अचेतन से चेतन अवस्था में आ गए हैं। अन्धकार से उजाले में! ब्रेन-स्टेम या सेरीबेलम में जो कुछ हो रहा है, हमें उसका कोई आभास नहीं होता। जैसे हम गहरी नींद में सो रहे हों। परन्तु सेरीब्रम के स्तर पर पहुंचते ही हम जाग रहे हैं। हमें सुख, दुख अनुभव होने लगता है। हमें लगता है कि सब काम हम अपनी इच्छा से कर रहे हैं, न कि किसी मशीन की तरह। हम कहने लगते हैं "मैं हूं", "मैं कर रहा हूं," "मुझे अच्छा लग रहा है"। क्या कोई भी मशीन ऐसा अनुभव करती है?

किसी भी प्राणी का सेरीब्रम इतना विकसित नहीं है जितना कि हमारा। एक क्षण छोटे-बड़े का भेदभाव भुलाकर हम चूहे और मनुष्य के मस्तिष्क को पास-पास रखकर देखें। दोनों में ब्रेन-स्टेम व अन्य भाग एक जैसे ही प्रतीत होते हैं। और हों भी क्यों नहीं! आखिर सांस, हृदय, भोजन, रक्तचाप आदि का नियंत्रण तो दोनों को ही करना है। उछलते-दौड़ते चूहे को भी अपने शरीर का सन्तुलन बनाए रखना है। परन्तु जब हम सेरीब्रम को देखते हैं तो लगता है कि चूहे और मनुष्य में भारी अन्तर है। हमारा सेरीब्रम इतना विशाल हो गया है कि उसने मस्तिष्क के और सब भागों को ढंक सा लिया है।

सेरीब्रम की इस आश्चर्यजनक वृद्धि के कारण शरीर के अनुपात में सबसे बड़ा मस्तिष्क मनुष्य का ही प्रतीत होता है। वैसे व्हेल और हाथी

का मस्तिष्क हमसे बड़ा अवश्य है। वज़न देखें तो व्हेल का मस्तिष्क पूरा 5 किलोग्राम निकलेगा, जबकि हमारा डेढ़ किलो से भी कम। हमारे निकटतम संबंधी बंदरों के मस्तिष्क का वजन तो केवल आधा किलोग्राम है। व्हेल के मस्तिष्क का वजन उसके शरीर के कुल भाग का 8000 वां भाग ही है जबकि हमारे मस्तिष्क का वजन, शरीर के वजन का करीब 50वां भाग है। व्हेल और मनुष्य के शरीर को बराबर कर दिया जाए तो मानव मस्तिष्क व्हेल के मस्तिष्क से 150 गुना से भी अधिक बड़ा दिखेगा।

सेरीब्रम में एक विशेषता ऐसी है जो हमारे लिये अभी भी पहेली बनी हुई है। यह दो भागों में बंटा है, जिन्हें हम दाहिना और बायां सेरीब्रम हेमीस्फीयर कहते हैं। दोनों को जोड़ने वाला केवल एक छोटा सा पुल है—कोरपस केलोसम। अजीब बात यह है कि दायां गोलार्द्ध शरीर के बाएं भाग से जुड़ा है और उसी का संचालन करता है जबकि बायां गोलार्द्ध शरीर के दायें भाग से जुड़ा है। आने-जाने वाली सभी तंत्रिकाओं को मध्य-रेखा पारकर दूसरी ओर जाना पड़ता है। यही व्यवस्था सभी प्राणियों में पाई जाती है। पर इसका कारण क्या है? यह उल्टा-पुल्टा सम्बन्ध क्या जीव-विकास की कोई त्रुटि है जो अब दोहराती चली जा रही है? अथवा इसका कोई विशेष उपयोग है जिसे हम समझ नहीं पा रहे हैं। सिर के दाहिने भाग में चोट लगने का प्रभाव शरीर के बांये भाग में नज़र आता है। इसीप्रकार बाएं हाथ में सुई चुभाने पर इसका दर्द दायें सेरीब्रम हैमीस्फीयर द्वारा अनुभव किया जाता है।

एक आधुनिक दफ्तर की तरह सेरीब्रम में भी बहुत अच्छे ढंग से काम का बंटवारा किया गया है। ऊपरी 3 मि.मी. मोटी सतह को कोरटेक्स कहते हैं और अधिकांश तंत्रिका-कोशिकाएं इसी में एकत्रित

हैं। बाकी सब भीतरी भाग में तंत्रिका रूपी तारों का जाल बिछा है। केवल कुछ कोशिकाओं के छोटे-छोटे समूह ही बीच में कहीं नजर आ सकते हैं। इस कोरटैक्स का सबसे पिछला भाग ''देखने'' का काम करता है, तो बीच का एक छोटा सा भाग ''सुनने'' का। नीचे की सतहपर ''सूंघने'' की व्यवस्था है। चाहे मनुष्य में यह भाग कुत्ते जैसे जानवरों की तुलना में काफी महत्वहीन हो गया है परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि मस्तिष्क में न तो प्रकाश पहुंच सकता है, और न ध्वनि या सुगन्ध। वहाँ तो तंत्रिकाओं में होकर केवल विद्युत संकेत ही पहुंच रहे हैं। फिर कौन हमारे सेरीब्रम में बैठा हुआ सब कुछ देख रहा है, सुन रहा है। क्या मनुष्य के मस्तिष्क में एक और छोटा सा मनुष्य बैठा है? यह एक जटिल पहेली है जिसमें वैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों ही न जाने कब से उलझ रहे हैं।
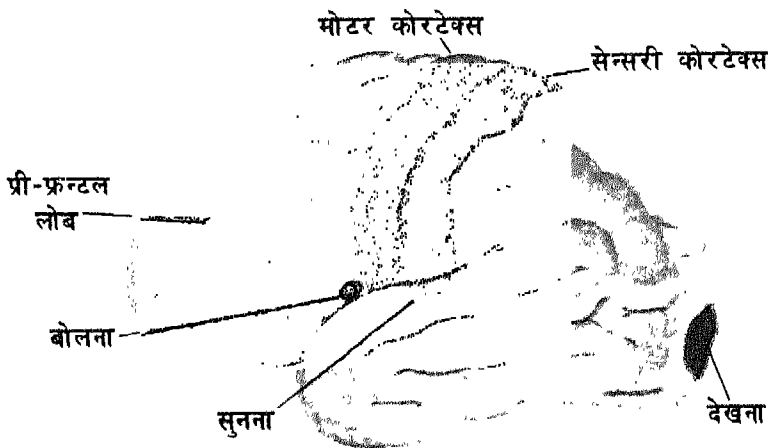
चित्र 26 : सेरीब्रल कॉरटेक्स के अलग-अलग भागों के बीच काम का बंटवारा।
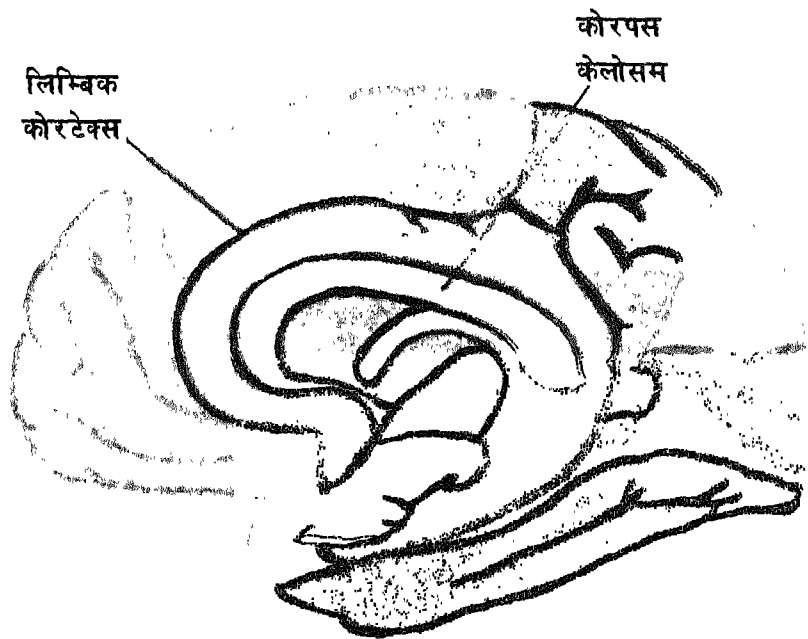
चित्र 27 : सेरीब्रल हेमीस्फीयर की भीतरी सतह। दोनों हेमीस्फीयर को जोड़ने वाले कॉरपस केलोसम को काट दिया गया है।

सेरीब्रम के मध्य भाग में सतह पर करीबन 1 से. मी. चौड़ी और 6 से. मी. लम्बी पट्टी 'मोटर कोरटेक्स' कहलाती है और यहीं से शरीर के दूसरी ओर की सब मांसपेशियों का संचालन होता है। यहां भी शरीर का प्रतिनिधित्व उल्टा ही है : सिर नीचे व पांव ऊपर। इस उलट-पुलट व्यवस्था के पीछे क्या रहस्य है, किसी को भी ठीक से ज्ञात नहीं। हो सकता है आप किसी दिन यह पहेली सुलझा सकें। मोटर कोरटेक्स के पास ऐसी ही एक पट्टी 'सेन्सरी कोरटेक्स' कहलाती है जहां शरीर के

दूसरी ओर से सारी संवेदनाएं आती हैं। स्पर्श, ताप, दबाव, चुभन सब यहीं अनुभव होता है। लेकिन यह कैसे? कांटा चुभते ही हमें दर्द तो अंगुली में होता है, न कि सिर में। पर ज़रा ध्यान से सोंचें तो कांटा चुभते ही अंगुली की तंत्रिका में विद्युत संकेत उत्पन्न होकर तेजी से सुषुम्ना और ब्रेन-स्टेम को पार करते हुए सेरीब्रम के सेन्सरी कोरटेक्स में पहुंचते हैं। तभी हमें दर्द का आभास होता है। दर्द अंगुली में हो रहा है, यह तो एक प्राकृतिक भ्रम है ताकि हम अपनी अंगुली की फौरन रक्षा करें।

मोटे तौर पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हमारा नर्वस-सिस्टम या तंत्रिका-तंत्र उसीतरह काम करता है जैसे कोई टेलीफोन व्यवस्था। कहीं भी बीच में तार कट गया तो उस क्षेत्र में सारा काम ठप्प! इसीप्रकार मस्तिष्क और शरीर के किसी भी भाग के बीच तंत्रिका के कटते ही संकेतों का आना-जाना उसी समय बन्द हो जाता है। इच्छा होते हुए भी हम अपने हाथ पैर नहीं हिला सकते। इसी को लकवा या पैरेलिसिस कहते हैं। मांसपेशियों को कुछ नहीं हुआ है, न ही मोटर कोरटेक्स को। बस, दोनों के बीच सम्पर्क स्थापित करने वाला केबल कट गया है। इसीप्रकार अब हम अंगुली में सुई चुभोएं या उसे जला दें तब भी हमें कोई दर्द नहीं अनुभव होगा। इसप्रकार हम आसानी से यह अनुमान लगा सकते हैं कि तंत्रिका-तंत्र के किसी भाग में चोट लग जाने से, या बीमारी हो जाने से, क्या परिणाम होगा। तेज स्कूटर चलाने के कारण एक नवयुवक सड़क पर गिर पड़ा है और उसके सिर में बाईं ओर चोट आई है (निश्चय ही वह हेलमेट पहनना भूल गया था); एक बच्चा पतंग उड़ाते-उड़ाते छत से पीठ के बल नीचे गिर पड़ा है; एक वृद्ध व्यक्ति के सेरीब्रम में किसी धमनी के फट जाने से बहते हुए खून ने उस तरफ सब तंत्रिकाओं को काट दिया है; किसी के सिर में ट्यूमर या गांठ हो जाने से सेरीबेलम पिचक गया है। अब जरा अनुमान लगाइये कि इन सब परिस्थितियों में रोगी को क्या हानि होगी।

इसके उपरान्त हम अपनी सर्वोत्तम प्रतिभा की बात करें—हमारी बुद्धि, विवेक, कल्पना, स्मरण शक्ति। यही हमारी मानव सभ्यता और सारी भौतिक उपलब्धियों का आधार है। परन्तु अब स्थिति और भी अधिक जटिल हो जाती है, क्योंकि इन सबका सेरीब्रम में कोई सीमित स्थान नहीं है। हम सेरीब्रम पर अंगुली रखकर यह नहीं कह सकते कि बुद्धि का केन्द्र यहां है या जितने गाने हमें याद हैं, वह सब यहाँ जमा हैं। शायद इन सब कार्यों के लिये सेरीब्रम के बहुत से भागों को मिलकर संयुक्त रूप से काम करना पड़ता है और शायद इसीलिये हमारा सेरीब्रम अपेक्षाकृत इतना बड़ा हो गया है। इतना बड़ा कि हम अपने मस्तिष्क से अपने मस्तिष्क का ही अध्ययन करने लगे हैं। क्या कोई कंप्यूटर कभी स्वयं अपने बारे में सोचता है?

□□

7

बुद्धि और व्यवहार : मधुमक्खी से मानव तक

सन् 1850 में अमेरिका में एक असाधारण दुर्घटना हुई। पहाड़ों में सड़क निकालने के लिये एक सुरंग खोदी जा रही थी कि अचानक बारूद में भयंकर विस्फोट हुआ। लोहे की एक भारी छड़ उड़ती हुई एक मज़दूर की कनपटी पर लगी और मस्तिष्क के सबसे आगे वाले भाग के आरपार हो गई। इतनी गहरी चोट और वह भी मस्तिष्क में! परन्तु, सब आशंकाओं के विपरीत वह व्यक्ति बच गया। उससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह थी कि मस्तिष्क के इतने बड़े भाग के क्षतिग्रस्त हो जाने पर भी उसमें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई दिया। वह कुछ ही समय में पहले की तरह ही चलने फिरने लगा। तो क्या हमारे मस्तिष्क का इतना बड़ा आगे का भाग बेकार ही है? सेरीब्रम के इस अग्र-भाग को हम "प्री-फ्रन्टल लोब" कह सकते हैं। जब मस्तिष्क के हर भाग को कोई न कोई विशेष काम सौंपा गया है—जैसे सेरीबेलम, मेडुला, मोटर कोरटेक्स, सेन्सरी कोरटेक्स आदि को—तो इतने बड़े "प्री-फ्रन्टल लोब" को क्यों बिना काम या जिम्मेदारी के छोड़ दिया गया है। तभी उस व्यक्ति की चिकित्सा कर रहे डॉ० बिगलो ने अनुभव किया कि चाहे शारीरिक रूप से उसमें कोई अन्तर न पड़ा हो, पर उसके व्यवहार में

अजीब परिवर्तन हो गया है। अब वह न किसी से डरता था, न किसी की परवाह करता। सामाजिक शिष्टाचार वह भूलने लगा था और जहां सब लोग गम्भीर होकर बैठे हों वहां भी वह हंसता रहता। कोई भी नई बात सीखने में उसका मन नहीं लगता। इन सब बातों को देखते हुए डॉ० बिगलो के लिये यह अनुमान लगाना स्वाभाविक ही था कि शायद प्री-फ्रन्टल लोब हमारे सामाजिक व्यवहार, विवेक या मन का केन्द्र है।

हम प्रतिदिन देखते हैं कि व्यवहार की दृष्टि से सभी लोग एक जैसे नहीं हैं। एक बहुत शान्त है, तो दूसरे को बात-बात पर गुस्सा आता है। एक बिलकुल आलसी है तो दूसरा दिन-रात आगे बढ़ने की धुन में है। एक चूहे से भी डरता है तो दूसरा शेर के सामने भी हिम्मत नहीं हारता। क्या इन गुणों-अवगुणों को हम मस्तिष्क के किसी विशेष भाग से जोड़ सकते हैं? क्या इनका कोई भौतिक आधार है, जिसे हम देख सकें, बदल सकें?

इस "अमेरिकन क्रोबार दुर्घटना" को तो लोग धीरे-धीरे भूल गये, पर इन मूल प्रश्नों के प्रति जिज्ञासा बनी रही। कई वर्ष बाद, दूर पुर्तगाल में, एक युवा चिकित्सक का ध्यान भी इस ओर गया। डॉ० एन्तोनियों एगास मोनीज़ ने सोचा कि जो बात एक दुर्घटना के फलस्वरूप देखी गई थी उसे एक वैज्ञानिक प्रयोग की तरह करके क्यों न आज़माऐं। बड़े साहस और धैर्य से एगास मोनीज उन लोगों के प्री-फ्रन्टल लोब पर ऑपरेशन करने लगे जो अत्यधिक निराश होकर जीवन के प्रति सब उत्साह खो चुके थे, और जिन्हें पागलख़ाने में डालकर सगे-सम्बन्धियों ने भी भुला दिया था। प्री-फ्रन्टल लोब का बाक़ी मस्तिष्क से सम्बन्ध-विच्छेद करने से उनमें आश्चर्यजनक परिवर्तन होने लगा। निराश और गुमसुम रहने के बजाय अब वह ख़ुश नज़र आने लगे, और कम से कम अपनी देखभाल तो ठीक से करने लगे। इस ऑपरेशन में नई बात यह थी कि इसका प्रभाव व्यक्ति के शरीर पर न होकर उसके मन

पर हो रहा था। डॉ० एगास मोनीज़ को "प्री-फ्रन्टल-ल्यूकोटोमी" का आविष्कार करने के लिये 1949 में नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया था। पुर्तगाल जैसे छोटे देश के लिये यह बहुत बड़ा गौरव था। आज चाहे इस ऑपरेशन का स्थान अधिकांश रूप से दवाओं ने ले लिया है, परन्तु मानव मस्तिष्क की जटिलताओं को समझने में उनके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।

मस्तिष्क के गूढ़ रहस्यों को खोज निकालना कोई आसान काम नहीं है। वैज्ञानिकों ने इसके लिये कई अलग-अलग रास्ते अपनाए हैं, और इन प्रयासों की कहानी बड़ी रोमांचकारी है। वैसे भी विज्ञान और अंध-विश्वास में एक महत्वपूर्ण अन्तर यही है कि वैज्ञानिक किसी सुनी-सुनाई बात को सहज ही नहीं मान लेते, जब तक कि उन्हें यह न बताया जाय कि इस सच्चाई का कैसे पता लगाया गया है। आज बच्चे भी जानते हैं कि हमारी पृथ्वी नारंगी की तरह गोल है, हालांकि यह दिखती तो चपटी ही है। हम आसानी से किसी को भी समझा सकते हैं कि पृथ्वी गोल है। इसीप्रकार हमें मस्तिष्क के रहस्यों को समझने के साथ यह भी जानना चाहिये कि इन तथ्यों का कैसे पता लगाया गया।

एक व्यापक रूप से काम में लिया जाने वाला तरीका प्रयोगशाला में मस्तिष्क के अलग-अलग भागों को विद्युत-तरंगों से उत्तेजित या नष्ट करके उसका प्रभाव देखना है। इसे अच्छी तरह समझने के लिये आइये देखें कि इस शताब्दी के प्रारम्भ में, स्विटज़रलैण्ड में वाल्टर हैस ने कैसे सेरीब्रम के अन्दर छुपे एक छोटे से भाग—हाईपोथेलेमस का अध्ययन किया था। एक बिल्ली को बेहोश करके उसके मस्तिष्क में वह एक स्टील का तार (इलेक्ट्रोड) इसतरह प्रविष्ट कराते कि उसका सिरा हाईपोथेलेमस में पहुंच जाए। परन्तु मस्तिष्क कांच का तो बना नहीं है कि हम उसके भीतर झांक कर देख सकें। फिर कैसे इस इलेक्ट्रोड को

इस छोटे से भाग तक सही ढंग से पहुंचाया जाए? यह एक विशाल अनजाने शहर में एक ख़ास मकान ढूंढ़ने जैसी बात है। इसके लिये हैस ने भी वही किया जो आप करेंगे। उन्होंने मस्तिष्क के नक्शों का सहारा लिया। हाईपोथेलेमस की स्थिति को इन नक्शों (या टूरिस्ट-मैप कहें) पर अच्छी तरह देख लिया : ललाट से X मि.मी. पीछे की ओर, दाएं कान से Y मि.मी. बायीं ओर, सतह से Z मि.मी. नीचे की ओर। अब बेहोश बिल्ली के सिर के चारों ओर एक नाप-अंकित त्रि-विन्यासी स्टील फ्रेम रखा गया, जिसपर लगे इलेक्ट्रोड को हर दिशा में खिसकाया जा सकता था। नक्शे में दिये हुये निर्देशानुसार इलेक्ट्रोड की नोक को हाइपोथेलेमस तक पहुंचा दिया गया। इसके लिये सिर की हड्डी में एक छोटा-सा छेद तो करना ही पड़ा। होश में आने पर बिल्ली बिलकुल स्वस्थ और खुश नज़र आती। प्रयोगशाला में अपनी इच्छा से घूमती रहती। हैस जब चाहते इलेक्ट्रोड के बाहर निकले छोर में तार बांधकर बहुत हल्की विद्युत तरंगों से हाईपोथेलेमस को उत्तेजित करते। इससे बिल्ली को न कोई दर्द होता, न बिजली का झटका लगता और न ही उसके चलने-फिरने में कोई बाधा पड़ती। कितने आश्चर्य की बात है कि ज़िस मस्तिष्क से हम सब कुछ अनुभव करते हैं, वह स्वयं संवेदना-रहित है। मस्तिष्क में सुई चुभाइये या उसे काटिये तो कोई दर्द नहीं होगा। परन्तु उस भाग का जो भी विशेष कार्य है, वह प्रकट हो जाएगा। हैस ने देखा कि हाईपोथेलेमस के अग्रभाग को उत्तेजित करने पर बिल्ली कोई ठंडी जगह ढूंढ़ कर बैठ जाती और हांफने लगती, जैसे उसे बहुत गर्मी लग रही हो। लेकिन अगर इलेक्ट्रोड थोड़ा पीछे के भाग में लगा होता हो प्रभाव बिलकुल विपरीत नज़र आता। बिल्ली कांपने लगती और धूप में सिमट कर बैठ जाती जैसे सर्दी से बचने का प्रयत्न कर रही हो। हाईपोथेलेमस के मध्य भाग में उत्तेजना होने से बिल्ली खाने पर झपटती और खाती ही जाती, जैसे कई दिनों से भूखी हो। परन्तु इलेक्ट्रोड का

सिरा ज़रा सा और अन्दर की ओर खिसका तो भूख एकदम ग़ायब। बिल्ली सामने रखे स्वादिष्ट भोजन को देखती तक नहीं। कुछ अन्य भागों को उत्तेजित करने पर बिल्ली बिना कारण ही क्रोध से गुर्राने लगती, दांत पीसती, और पास खड़े लोगों पर झपटती। परन्तु कुछ दूसरे भागों के क्रियाशील होते ही वह एकदम सिमट कर सो जाती।

इन अत्यन्त रोचक प्रयोगों के आधार पर वाल्टर हैस इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि हाईपोथेलेमस चाहे दिखने में मस्तिष्क का बहुत ही छोटा सा भाग है, परन्तु इसका कार्य बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसे हम एक "कन्ट्रोल-पेनल" या "स्विच-बोर्ड" कह सकते हैं जहां से उन सब शारीरिक प्रक्रियाओं को चालू किया जा सकता है जो हमारे अलग-अलग भाव या व्यवहार दर्शाती हैं। एक "भूख-केन्द्र" है, तो दूसरा "तृप्ति केन्द्र"। किसी एक बटन के दबते ही नींद की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है तो दूसरे से गर्मी से बचाव की। वाल्टर हैस और एगास मोनीज़ 1949 में सम्मिलित रूप से नोबेल-पुरस्कार से सम्मानित किये गये थे।

हैस द्वारा विकसित इस प्रायोगिक विधि का आज भी मस्तिष्क के अध्ययन में व्यापक उपयोग किया जा रहा है। परन्तु अब इलेक्ट्रोड को तार द्वारा किसी विद्युत मशीन से जोड़ना आवश्यक नहीं। वैज्ञानिक जब चाहें बन्दर, बिल्ली या चूहे के मस्तिष्क में लगे इन इलेक्ट्रोडों को दूर से ही रेडियो प्रसारण विधि से उत्तेजित कर सकते हैं। बहुत कुछ उसीतरह जैसे आज "रीमोट-कन्ट्रोल" से कुछ घरों में टेलीविजन, टेलीफोन या खिलौने की मोटरें चलाई जाती हैं।

मस्तिष्क, मन और बुद्धि के अध्ययन का दूसरा तरीक़ा यह भी हो सकता है कि हम प्रयोगशाला से बाहर निकलकर प्रकृति में स्वच्छन्द विचर रहे विभिन्न प्राणियों के व्यवहार को ध्यान से देखें। क्या उनके व्यवहार और उनके मस्तिष्क की जटिलता में कोई सम्बन्ध है?

उदाहरण के लिये, 4 सामान्य उपकरणों को ही लीजिये। एक रेडियो है जिससे हम केवल ध्वनि सुन सकते हैं। दूसरा टेलीविजन है जिसपर ध्वनि के साथ-साथ हम तस्वीर भी देखते हैं। तीसरा रंगीन टेलीविजन है, और चौथा रंगीन टेलीविजन तो है ही पर उसके साथ "रीमोट कन्ट्रोल" होने से हम उसे दूर बैठे ही चला सकते हैं। अब हम उनको खोलकर ध्यान से देखें। मशीन की बनावट में स्पष्ट अन्तर है। उसकी जटिलतायें बढ़ती गई हैं–रेडियो से रीमोट-कन्ट्रोल–रंगीन-टी०वी० तक। क्या इससे हम यह अनुमान नहीं लगा सकते कि किस पुर्जे का क्या काम होता होगा?

तो चलिये पहले हम अपने पालतू कुत्ते का ही अध्ययन करें। उसके दिन भर के व्यवहार को हम मोटे तौर पर दो भागों में बांट सकते हैं। बहुत सी बातें तो लगता है उसमें जन्मजात हैं उन्हें सीखना नहीं पड़ता। सभी कुत्तों में यह अपने आप उपस्थित होती हैं। जैसे घास पर बैठी चिड़िया या गिलहरी को देखते ही उनपर झपटने की कोशिश करना, अनजान व्यक्ति या दूसरे कुत्तों पर भौंकना, मांस की गंध से आकर्षित होना आदि। इनमें हमें कोई विशेष बात नहीं लगती। यह तो कुत्ते का स्वभाव ही है।

परन्तु बहुत सी बातें कुत्ते में ऐसी भी हैं जो उसने स्वयं सीखी हैं। यह सब कुत्तों में नहीं पाई जातीं और हमें उसकी व्यक्तिगत बुद्धिमत्ता का परिचय देती हैं। वह अपने मालिक को देखते ही खुशी से पूंछ हिलाने लगता है। रेफ्रीजरेटर खुलने की आवाज सुनते ही कुछ मिलने की आशा में दौड़ कर आता है। अपने घर का रास्ता खूब याद रखता है। नाम पुकारने पर पास चला आता है। कुछ कुत्ते तो अपनी बुद्धिमानी से पूरे फिल्म-स्टार बन गए हैं।

जो बात हमने कुत्ते में देखी वही सब प्राणियों पर भी लागू होती

है। हमारा व्यवहार कुछ सीमा तक तो जन्मजात, सहज और स्थाई है। कुछ आचरण स्वयं का सीखा हुआ तथा बौद्धिक और परिवर्तनशील है। अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या इन अलग-अलग व्यवहारों का सम्बन्ध मस्तिष्क के अलग-अलग भागों से है? क्या व्यवहार में अन्तर का कोई स्पष्ट भौतिक आधार मस्तिष्क की रचना में दिखाई देता है?

हम पहले ही देख चुके हैं कि बुद्धि, विवेक, नई बातें सीखने की क्षमता, सामाजिक शिष्टाचार आदि का सम्बन्ध शायद हमारे सेरीब्रम के प्री-फ्रन्टल लोब से है। अमेरिका में हुई प्रसिद्ध ''क्रोबार दुर्घटना'' व एगास मोनीज़ के कार्य को पुनः याद करने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। मानव मस्तिष्क में सेरीब्रम अपेक्षाकृत बहुत बड़ा है—एक विशाल बरगद के पेड़ की तरह इसने और सब भागों को ढंक सा लिया है और सेरीब्रम की यह वृद्धि भी बहुत कुछ प्री-फ्रन्टल लोब में ही हुई है। इसीलिये हम दूसरे सब प्राणियों से कहीं अधिक बुद्धिमान, विवेकशील और निपुण हैं। चाहे कुत्ता हो या बन्दर, बुद्धि में कोई भी हमारे पास नहीं फटक सकता। एक 2-3 साल का बालक जितना कुछ सीख जाता है, बन्दर या कुत्ता जीवन भर प्रयास करने पर भी कभी नहीं सीख सकते।

यह तो हुई बुद्धिमत्तापूर्ण, सीखे हुए व्यवहार की बात। क्या इसी तरह जन्मजात व्यवहार का सम्बन्ध भी मस्तिष्क के किसी विशेष भाग से जुड़ा हुआ है? इधर पिछले कुछ वर्षों से वैज्ञानिक सेरीब्रल हेमीस्फीयर के निचले व मध्यवर्ती भागों के अध्ययन में लगे हैं, जो सामान्यतः कौरटेक्स से ढके होने के कारण आसानी से नजर नहीं आते। इस सारे भाग को ''लिम्बिक सिस्टम'' या ''लिम्बिक-कोरटेक्स'' कहते हैं, क्योंकि

इसका विस्तार एक अंगूठी की तरह गोल-सा प्रतीत होता है। कई प्रयोगों से यह अनुमान लगाया गया है कि हमारी मूल भावनाएं—क्रोध, स्नेह, भय, चिन्ता, सुख, दुख—इसी लिम्बिक सिस्टम में जागृत होती हैं। इस सन्दर्भ में डॉ० ओल्ड्ज और उनके सहयोगियों ने कुछ बहुत ही रोचक प्रयोग किये हैं। उन्होंने चूहे के लिम्बिक सिस्टम में कई स्थानों पर इलेक्ट्रोड स्थापित किये, उसी "स्टीरियोटेक्सिक" विधि से जिसको वाल्टर हैस ने विकसित किया था। फिर चूहे को एक विशेष पिंजरे में रखा जाता। इसमें एक ओर एक लीवर लगा था जिसके दबते ही विद्युत परिपथ पूरा हो जाता था और चूहें के मस्तिष्क में लगी इलेक्ट्रोड की नोक आसपास के भागों को उत्तेजित करने लगती। आरम्भ में तो चूहा कोतूहलवश इस लीवर को एक दो बार यूं ही खींच कर देखता, परन्तु बाद में तो वह सब काम छोड़कर बस बार-बार लीवर को ही दबाता रहता। ओल्ड्ज ने बड़े आश्चर्य से देखा कि कभी-कभी तो लीवर दबाने की यह प्रक्रिया इतनी तेज़ हो जाती जैसे कोई मशीन चल रही हो—1 मिनट में 200 बार तक। भूख और थकान से निढाल होने पर ही वह लीवर को छोड़ता।
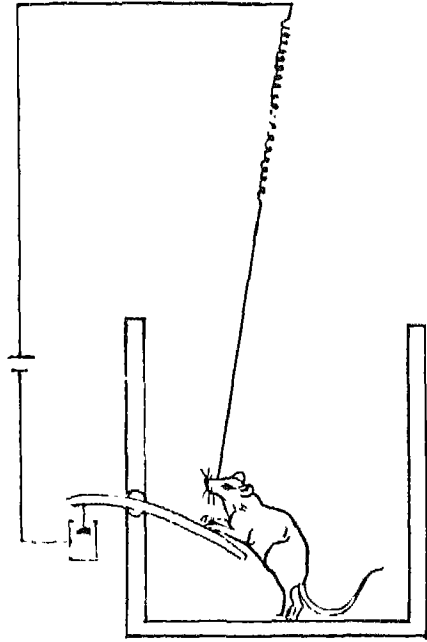
चित्र 28

सभी सोचने लगे कि आखिर चूहा ऐसा क्यों कर रहा है? क्या मिल

रहा है उसे? लिम्बिक सिस्टम से न तो किसी शारीरिक अंग का प्रत्यक्ष नियंत्रण होता है न मांसपेशियों का संचालन और न ही उससे त्वचा से आने वाली संवेदनाओं का अनुभव होता है। हम देख चुके हैं कि इन सबके लिये तो मस्तिष्क के दूसरे भाग सुरक्षित हैं। अपने लिम्बिक सिस्टम को स्वयं उत्तेजित करके चूहा क्या अनुभव करता है, यह तो वही जाने। न हम उससे पूछ सकते हैं और न वह हमें बता सकता है, पर उसे कुछ आनन्द या सन्तोष मिलता होगा, वरना खाना-पीना छोड़कर वह ऐसा क्यों करेगा!

बाद में ऐसे ही प्रयोग, ऑपरेशन के समय कुछ मनुष्यों पर भी दोहराये गए। यह पूछे जाने पर कि वह व्यर्थ में इस लीवर को क्यों बार-बार दबाना चाहते हैं, उनका उत्तर होता—"अच्छा लग रहा है", अथवा "शांति अनुभव हो रही है", या कि "अनुभव तो कुछ भी नहीं हो रहा, पर ऐसा करते रहने की इच्छा ही रही है।" अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि लिम्बिक सिस्टम हमारे भावनात्मक व्यवहार से सम्बन्धित है। इसके क्रियाशील होने से हममें संतोष, आत्मसुख, काम करने की लगन आदि उत्पन्न होती हैं। साथ ही कुछ भाग इन भावनाओं के विपरीत भय, चिन्ता या आलस्य पैदा करते हैं। हम कहते हैं कि "न जाने क्यों आज काम करने की इच्छा नहीं हो रही", या "आज मन ठीक नहीं है।"

एक महत्वपूर्ण बात यह है कि चूहे से मनुष्य तक के विकास में लिम्बिक सिस्टम में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। अगर हम चूहे, बिल्ली, बन्दर और मनुष्य के मस्तिष्क को बीच में से काटकर देखें तो लिम्बिक सिस्टम लगभग एक जैसा ही प्रतीत होता है। वैसे क्या हमारा जन्मगत, भावानात्मक व्यवहार भी बहुत कुछ एक जैसा ही नहीं है? भोजन देखकर सभी झपटना चाहते हैं (स्कूल या कालेज की पिकनिक में

क्या होता है?)। क्रोध में अकारण किसी से भी झगड़ा कर लेते हैं, और बाद में पछताते हैं। अपने बच्चों की रक्षा करते हैं, उनकी सुविधा के लिये घर बनाते हैं—चाहे वह घोंसला हो या महल। यहाँ तक कि जीवन की दौड़ में हम अन्य प्राणियों के समानान्तर ही चल रहे हैं।

परन्तु लिम्बिक सिस्टम के स्तर से ऊपर उठें तो सारी बात ही बदल जाती है। सेरीब्रम की इस प्राचीन और मज़बूत नींव पर मानव मस्तिष्क में एक भव्य नई इमारत का निर्माण हुआ है, जिसे हम पहले ही सेरीब्रल कोरटेक्स का नाम दे चुके हैं। विकास क्रम की दृष्टि से लिम्बिक सिस्टम की तुलना में कहीं अधिक आधुनिक होने के कारण हम इसे 'नव-कोरटेक्स' या "नियो-कोरटेक्स" भी कह सकते हैं। इसी के सहारे हमने अपने मूल जन्मजात व्यवहार के ऊपर बुद्धिमत्तापूर्ण, विवेकशील व्यवहार का आवरण चढ़ा लिया है। यहीं से हम चूहे, बिल्ली या बन्दर को पीछे छोड़कर जीवन की दौड़ में बहुत आगे पहुंच गये हैं। भूख लगने पर हमारी भी तीव्र इच्छा होती है कि टेबल पर रखे स्वादिष्ट भोजन को झपटकर खा लें। परन्तु नहीं, हम सोचते हैं कि ऐसा करना अनुचित होगा। हमने सीखा है कि पहले दूसरों को परोसना चाहिये, अतिथियों की मनुहार करनी चाहिये। हम काफी सीमा तक अपनी मूल प्रवृत्तियों को बुद्धि से नियंत्रण में रख सकते हैं।
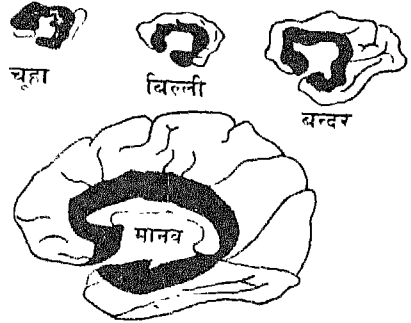
चित्र 29 : विभिन्न प्राणियों में लिम्बिक सिस्टम (काला भाग)। इसका विस्तार सभी में एक सा प्रतीत होता है।

एक दार्शनिक की तरह ज़रा गहराई से सोचें तो इस छोटी सी बात का व्यापक महत्व है। बचपन में सुनी परियों की कहानियों को ही

लीजिये। कुछ राक्षस होते हैं, जो क्रोध और लालच के मारे हर समय दूसरों को तंग करते रहते हैं। कुछ परियाँ होती हैं जो ठीक समय पर आकर सब की सहायता करती हैं, हर समस्या का बुद्धि और विवेक से हल निकाल देती हैं। इन दोनों छोरों के बीच हम स्वयं अपने आपको कहां रखें, यह एक पहेली है। क्या बीसवीं सदी में मानव जाति का व्यवहार पूर्णतया बुद्धि और विवेक से संचालित है? दो भयंकर विश्वयुद्ध, विनाशकारी आणविक शस्त्रों की होड़, बात-बात में हिंसा, अपने निकट-सम्बन्धियों के प्रति क्रूरता! कितना बड़ा अन्तर है अभी मानव जाति के व्यवहार और आदर्शों में!

इस वर्णन से यह भ्रम हो सकता है कि हमारे मस्तिष्क के विभिन्न भाग स्वतंत्र रूप से अपना काम करते रहते हैं; परन्तु ऐसा नहीं है। काम का बंटवारा अवश्य है, लेकिन सभी भागों के बीच घनिष्ठ सम्पर्क बना रहता है; जैसे एक बड़े दफ्तर में हर अफसर अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर निगरानी रखता है, अपने से ऊंचे अधिकारियों के आदेश मानता है, और बराबर के सहयोगियों से विचार-विमर्श करता रहता है। कुछ इसीप्रकार की परम्परा हमारे मस्तिष्क में भी है। इस कार्य प्रणाली का सबसे पहले बहुत गहराई से विश्लेषण सर चार्ल्स शेरिंगटन ने किया था। प्रयोगशाला में वर्षों के अनुभव को एकत्रित करके उन्होंने अपना "तंत्रिका-तंत्र की एकता" (इन्टीग्रेटिव एक्शन ऑफ दी नर्वस सिस्टम) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। यह सिद्धान्त एक प्रकार से मस्तिष्क की कार्य प्रणाली की आधारशिला है। 95 वर्ष की आयु में 4 मार्च 1952 को जब उनका देहान्त हुआ तो संसार ने आधुनिक युग के एक महानतम शरीर-क्रिया वैज्ञानिक और दार्शनिक को खो दिया। उनके बारे में एक रोचक बात यह भी है कि वैज्ञानिक तथ्यों को बड़े सुन्दर और साहित्यिक भाषा में लिखने की उनमें अद्भुत प्रतिभा थी। क्या यह आवश्यक है कि विज्ञान की भाषा बिलकुल नीरस और कठिन

चित्र 30 : सर चार्ल्स शेरींगटन, 92 वर्ष की आयु में।

ही हो! 1932 में उन्हें अपने प्रिय सहयोगी लॉर्ड एड्रीयन के साथ नोबेल-पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

चाहे कोई मशीन हो या जीवित प्राणी, उसके पुर्जों के बीच समन्वय होना आवश्यक है। इस आपसी सहयोग के बिना हमारा मस्तिष्क भी कुछ नहीं कर पायेगा। उदाहरण के लिये आप अपना बायां हाथ फैलाइये और अब आंख मीचकर अपनी अंगुली से नाक को छूइये। कितना आसान काम लगता है! परन्तु वास्तव में यह एक बहुत जटिल प्रक्रिया है। सबसे पहले सेरीब्रम में एकत्रित पुराने अनुभव और स्मृति के आधार पर यह तय किया गया कि अंगुली को नाक तक पहुंचाने के लिये क्या करना पड़ेगा। फिर मोटर-कोरटेक्स से उचित आदेश, सुषुम्ना में होते हुए, कंधे, कोहनी व हाथ की मांसपेशियों को प्रसारित हुए। इन संकेतों के पहुंचते ही मांसपेशियों ने संकुचित होना प्रारम्भ कर दिया, जैसे बिजली की छोटी-छोटी कई मोटरों ने घूमना आरम्भ कर दिया हो। इनके खिंचाव से कोहनी मुड़ने लगी। इसी क्षण मांसपेशियों व हाथ के जोड़ों, स्नायुओं, हड्डियों आदि में लगे छोटे-छोटे संवेदकों ने इस परिवर्तन की सूचना वापस मस्तिष्क को देना प्रारम्भ कर दिया। इस सूचना के आधार पर सेरीबेलम हमारी ''योजना'' और ''उपलब्धि'' का प्रतिपल मिलान करने लगा। दोनों में जो अन्तर प्रतीत हुआ उसके अनुसार मोटर-कोरटेक्स को सूचित किया, ताकि वह मांसपेशियों को जाने वाले आदेशों में उचित संशोधन करे। बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। अगर कोहनी या अंगुली को एक तरफ मोड़ना है तो यह भी आवश्यक है कि उन्हें विपरीत दिशा में मोड़ने वाली मांसपेशियों को एकदम ढीला छोड़ दिया जाये। इसलिये इनको जाने वाले आदेश कुछ समय के लिये बिलकुल बन्द कर दिये जाते हैं।

अंगुली नाक तक पहुंच गई, परन्तु उसके पीछे छुपी प्रक्रियाओं का हमें कुछ भी आभास नहीं। सब कुछ चेतना के स्तर से नीचे, एक

स्वचालित मशीन की तरह होता रहता है। किसी विशाल आधुनिक संयंत्र के नियन्त्रण-कक्ष की तरह हमारा सेरीबेलम सारी कार्यवाही पर निगरानी रखता है। परन्तु न तो वहां मीटरों की कतारें हैं और न टी० वी० स्क्रीन की भीड़। सब काम वही तंत्रिका-कोशिकाएं अद्भुत समन्वय और सहयोग से करती रहती हैं। इसीलिये सेरीबेलम में कोई क्षति या बीमारी हो जाने पर हमारा चलना-फिरना, बोलना आदि सभी क्रियाएं बेतुकी और असंतुलित हो जाती हैं।

सेनटियागों काहल ने रचना की दृष्टि से मस्तिष्क को करोड़ों तंत्रिका-कोशिकाओं के एक समूह के रूप में देखा था—हर कोशिका अपने में पूर्ण और स्वतंत्र। चार्ल्स शेरींगटन ने कार्यप्रणाली की दृष्टि से देखा कि छोटे से छोटे काम के लिये मस्तिष्क के कई भागों के बीच पूर्ण सहयोग और समन्वय आवश्यक है। क्या दोनों ही धारणाएं सही नहीं प्रतीत होतीं? जब हमारे मस्तिष्क में स्वतंत्रता और एकता दोनों का इतना सुन्दर सम्मिश्रण है तो यही बात हम शरीर के बाहर अपने समाज और देश पर क्यों नहीं लागू कर सकते?

□□

8

मस्तिष्क एक कंप्यूटर

सभी जानते हैं कि शतरंज एक ऐसा खेल है जिसमें बहुत धैर्य और बुद्धि की आवश्यकता है। इसका आविष्कार शायद भारत में ही हुआ था, हालांकि अब यह सोवियत सघ में कहीं अधिक प्रचलित है। परन्तु अमेरिकन वैज्ञानिक तो और भी आगे निकल गये हैं और उन्होंने ऐसे कंप्यूटर बना लिये हैं जो शतरंज खेल सकते हैं। मशीन और मानव के बीच इस सीधे मुकाबले में साधारण खिलाड़ी तो अक्सर मात खा जाते हैं। कंप्यूटर की चाल का जवाब सोचते हुए जब हम इस ध्यानमग्न शतरंज के खिलाड़ी को देखते हैं तो ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे जीवित मस्तिष्क और जड़ कंप्यूटर के बीच गहरी समानता है। वैसे भी आज के मशीनी युग में यह स्वाभाविक ही है कि हम शरीर के विभिन्न अंगों की तुलना दैनिक जीवन में काम आने वाले उपकरणों से करें। हम कहते हैं कि हृदय एक पम्प है, आँख कैमरे की तरह है, तंत्रिका बिजली के तारों जैसी है; और मस्तिष्क? तुरन्त उत्तर होगा कि मस्तिष्क एक कंप्यूटर है। मानव-कंप्यूटर सम्बन्धों पर आधारित कितने ही रोचक कार्टून और चुटकुले आपने देखे व सुने होंगे।

आजकल हर जगह, चाहे कक्षा हो अथवा दुकान, दफ्तर हो या घर, साधारण गणना करने के लिये भी मशीनों की सहायता ली जाती

है। अपने मस्तिष्क का बोझ हमने इन कैलकूलेटर और कंप्यूटर पर लाद दिया है। गुणा, भाग, जोड़ना, घटाना आदि क्रियाएं हमारा मस्तिष्क भी कर सकता है और कंप्यूटर भी। परन्तु क्या दोनों का तरीका एक है? क्या भविष्य में ऐसे उन्नत सुपर-सुपर-कंप्यूटर बन सकेंगे जिनमें हमारी तरह बुद्धि और चेतना हो? क्या मस्तिष्क और कंप्यूटर में केवल छोटे-बड़े का अन्तर है, या कि उनके बीच कुछ ऐसी सैद्धान्तिक भिन्नताएं हैं जिन्हें मिटाना संभव नहीं। ऐसे रोचक प्रश्न आज व्यापक महत्त्व के हैं। इनको सुलझाने के प्रयासों में एक ओर तो कंप्यूटर के विकास में बहुत सहायता मिल रही है, वहीं दूसरी ओर इससे हम मस्तिष्क के रहस्यों को भी ज्यादा अच्छी तरह समझने लगे हैं।

मशीनों के सम्पर्क से हमने यह भी सीखा है कि किसी बड़े उपकरण की जटिलताओं को अच्छी तरह समझने के लिये पहले हम उसके छोटे और सरल मॉडल बनाकर देखें। स्कूलों और कालेजों में भी बच्चों को हवाई जहाज़, वाष्प इंजन, रेडियो आदि के मॉडल बनाने के लिये प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये, ताकि वह खेल-खेल में इनकी मूल रचना से परिचित हो जाएं। क्यों न हम मानव मस्तिष्क जैसे अद्‌भुत कंप्यूटर को समझने से पहले मस्तिष्क के एक छोटे मॉडल का अध्ययन करें?

ऐसे ही जीवित मॉडल के रूप में हम एक छोटे से ततैये को लेते हैं। मादा ततैया अंडे देने के लिए लकड़ी या दीवार में कोई छोटा सा छेद चुनती है। फिर एक कीड़े को डंक से बेहोश करके अपने घर तक लाती है। उसे घर के पास रखकर वह एक बार अकेली अन्दर जाती है और घूम-फिर कर देखती है कि स्थान साफ और सुरक्षित तो है! फिर बाहर आकर बेहोश कीड़े को अन्दर खींच लेती है—अपने होने वाले बच्चों के भोजन के लिये।

ततैया जब निरीक्षण के लिये अन्दर गई हुई है, उसी समय हम कीड़े को उठा कर थोड़ी दूर रख देते हैं। ततैया इधर-उधर उड़कर कुछ ही समय में उसे ढूंढ़ लेगी। लेकिन उसे लेकर सीधे घर में प्रवेश नहीं करेगी। वह निरीक्षण की सारी प्रक्रिया दुबारा दोहराएगी। पहले कीड़े को किनारे पर छोड़ना, फिर अन्दर जाकर सब कुछ ठीक करना, और फिर वापस कीड़े को लेने के लिए बाहर आना। लेकिन नहीं, इसी बीच हम वापस कीड़े को दूर खिसका देते हैं। ततैया उसे पुनः ढूंढ़ती है और वही सारी प्रक्रिया पुनः दोहराती है। एक प्रयोग में 30 बार ऐसा किया गया और 30 बार ही ततैया ने बिलकुल वही आचरण दोहराया।

आश्चर्य है कि ततैया इतनी सी बात नहीं समझ सकी कि बार-बार घर का निरीक्षण क्यों करना है? क्यों न अब कीड़े को लेकर सीधे घर के अन्दर चला जाये।

ततैया के मस्तिष्क और एक कंप्यूटर के बीच समानता साफ झलक रही है। लगता है ततैया का मस्तिष्क एक सुनिश्चित प्रक्रिया को ही बार-बार दोहराता जाता है, जिसके लिये उसका जन्म से ही प्रोग्राम किया हुआ है। प्रयोग द्वारा बदली गई परिस्थिति के अनुसार कुछ सोचने-समझने की, कुछ सीखने की, कुछ अपना आचरण बदलने की क्षमता शायद वास्प में नहीं है।

अब हम वास्प को छोड़कर एक उससे कहीं बड़ा मॉडल लें—मानव बच्चे का मस्तिष्क। एक बच्चे को और किसी कंप्यूटर को पास बैठाकर हम दोनों को एक ही काम करने को कहते हैं, "9 से 9 को गुणा करो, और जो उत्तर आए उसे फिर 9 से गुणा करते जाओ।" कंप्यूटर आदेशानुसार काम शुरू कर देगा, और तब तक करता ही जायेगा जब तक कि हम उसका स्विच न बन्द करदें। लेकिन बच्चा कुछ ही मिनटों में कागज़ पेन्सिल फेंक देगा और आपसे ही पूछने लगेगा, "अरे, यह

बेकार सा काम मुझसे क्यों करवा रहे हैं? इसका मतलब क्या है? मैं थक गया हूं, जाओ अब मैं नहीं करता।" हम अगर फिर भी उसपर ज़ोर डालें तो वह गलतियाँ करने लगेगा, जब कि गुणा करने की विधि उसे भी कंप्यूटर की ही भांति अच्छी तरह आती है।

ततैया और कंप्यूटर की तुलना में बच्चे का व्यवहार एकदम भिन्न है। अपने अत्यन्त विकसित सेरीब्रम से वह हर बात का कारण या उपयोग ढूंढ़ता है। व्यर्थ के काम से बच्चा शीघ्र ही ऊब जाता है। उसके सोचने में असीमित विविधता है, कंप्यूटर की तरह सुनिश्चितता नहीं। किसी भी प्रश्न का वह अचानक ऐसा नया हल खोज निकालेगा जो पहले उसे किसी ने बताया नहीं था। क्या किसी कंप्यूटर पर सेव गिराने से वह न्यूटन की तरह गुरुत्वाकर्षण के बारे में सोचने लगेगा? या विभिन्न जानवरों के बारे में सारी सूचना देने पर डारविन की तरह विकासवाद का सिद्धान्त खोज निकालेगा? एक रोचक बात यह भी है कि ग़लतियां करने की क्षमता भी मस्तिष्क में ही है, कंप्यूटर में नहीं। बोलते समय हम कई बार ऐसी ग़लतियां कर बैठते हैं। ऑक्सफोर्ड के प्रोफेसर विलियम स्पूनर इसके लिये काफी प्रसिद्ध थे। इसीलिये इसको "स्पूनरिज्म" भी कहते हैं। हिन्दी में भी इसके कई उदाहरण मिल जायेंगे। "आपकी घड़ी में क्या बजा है?" के स्थान पर "आप की बजी में क्या घड़ा है?" या "ऊपर की सीढ़ी से फिसला" के स्थान पर "ऊपर की फिसली से सीढ़ी।" आजकल कुछ वैज्ञानिक इस बात का भी गंभीरता से अध्ययन करने में लगे हैं कि यह ग़लतियां मस्तिष्क में कैसे उत्पन्न होती हैं। एक व्यापक दृष्टिकोण से देखें तो प्रयोगशाला में कितनी ही बार हमारी किसी भूल ने ही नये आविष्कार को जन्म दिया है। क्या आप कुछ उदाहरण सोच सकते हैं?

स्पष्ट है कि मानव मस्तिष्क में बुद्धि, चेतना, विवेक आदि कुछ ऐसे विशिष्ट गुण हैं जिन तक आज के बड़े से बड़े कंप्यूटर नहीं पहुंच सकते।

भविष्य में भी कभी पहुंच पायेंगे, इसमें सन्देह है।

परन्तु कुछ बातें ऐसी अवश्य हैं जिनमें कंप्यूटर हमारे मस्तिष्क से अधिक निपुण प्रतीत होता है, और यहीं उसकी वास्तविक उपयोगिता है। कंप्यूटर कोई भी गणना अत्यन्त तेज़ी से कर सकता है, जबकि वही काम हम कागज पेन्सिल लेकर करने बैठें तो शायद वर्षों लग जायें। डॉ० हांस बर्लिनर द्वारा बनाया गया शतरंज खेलने वाला कंप्यूटर 1 सेकंड में ही 175,000 चालों का विश्लेषण करके उनमें से उपयुक्त चाल चुनता है। तब तक हम तो पांच तक गिनती भी नहीं कर पाएंगे। इसीलिये तीव्र गति से चलने वाले अन्तरिक्ष-यानों, रॉकेटों, वायुयानों आदि के नियंत्रण में हमें कंप्यूटरों पर निर्भर होना पड़ता है। इसीप्रकार आज कई आवश्यक गणनाएं इतनी लम्बी और उकता देने वाली होती हैं कि हमारे लिये उन्हें पूरा करना बड़ा कष्टदायक होगा। अब किसी कंप्यूटर को यह काम सौंपकर वैज्ञानिक अधिक सुखद और संतोषजनक पहलुओं पर ध्यान दे सकते हैं। एक और सन्दर्भ में भी कंप्यूटर हमारे मस्तिष्क से आगे निकल जाता है। अगर हम एक कंप्यूटर में संचित सारे ज्ञान कों किसी दूसरे कंप्यूटर में स्थानान्तरित करना चाहें तो यह कुछ ही घंटों में किया जा सकता है। आज कल एक कैसेट में रिकॉर्ड किये हुए संगीत से दूसरा कैसेट आसानी से तैयार कर लिया जाता है। परन्तु यदि एक मानव मस्तिष्क में संचित सारे ज्ञान को हम दूसरे मानव मस्तिष्क में पहुंचाना चाहें तो कितना समय लगेगा? क्या इसीलिये हमें अपनी शिक्षा पर स्कूल और कॉलेजों में 20-25 वर्ष बिताने पड़ते हैं?

अब हम एक और महत्वपूर्ण प्रश्न पर आते हैं। कंप्यूटर चाहे कितना ही उन्नत या चतुर क्यों न हो, वह केवल वही काम कर सकता है जिसकी विधि हमें स्वयं ज्ञात है, और जिसे हमने कंप्यूटर को सिखा दिया है। चाहे 2 को 2 में जोड़ना हो या आधुनिक भौतिक विज्ञान के

जटिल समीकरण हल करने हों, उन्हें करने की विधि तो कंप्यूटर को हमारा मस्तिष्क ही सिखाएगा। कंप्यूटर को हमारे मस्तिष्क ने प्रोग्राम कर दिया, पर हमारे मस्तिष्क को कौन प्रोग्राम करता है?

इस समस्या पर प्रकाश डालने के लिए हमें एक बार फिर पिछली

चित्र 31 : इवान पेवलोंव

शताब्दी के अन्तिम चरण में जाना होगा। उन दिनों रूस के लेनिनग्राद शहर में इवान पेवलोव ने कुत्तों पर कुछ ऐसे प्रयोग करना आरम्भ किया जिसका आधुनिक विज्ञान ही नहीं परन्तु शिक्षा, राजनीति, समाज शास्त्र आदि पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा।

पेवलोव ने एक बन्द व ध्वनि-रहित कमरे में एक कुत्ते को अकेला खड़ा कर दिया। सामने भोजन देखते ही कुत्ते के मुंह से लार टपने लगती। ऑपरेशन द्वारा कुत्ते की लार ग्रन्थियों में पहले ही एक नली लगा दी गई थी, ताकि जितनी भी लार निकले उसको एकत्रित करके नापा जा सके। कुछ समय बाद जब कुत्ता सारी परिस्थिति से अभ्यस्त हो गया, तो भोजने देने के साथ-साथ कमरे में एक घंटी भी बजायी जाने लगी। थोड़े दिनों बाद पेवलोव को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि अब बिना भोजन दिये केवल घंटी बजाने पर ही कुत्ते के मुंह से उतनी ही लार निकलने लगती। जब घंटी के साथ-साथ एक बल्ब भी कुत्ते के सामने जलाया जाने लगा तो कुछ दिनों में केवल यह प्रकाश देखकर ही उसके मुंह से लार टपकने लगती।

भोजन चबाते समय मुंह की ग्रन्थियों से लार निकलना कुत्ते का स्वाभाविक, जन्मजात व्यवहार है। कुत्ते का ही नहीं, हमारा और अधिकांश प्राणियों का भी। हम इसे प्रतिवर्ती-क्रिया या 'रिफ्लेक्स-एक्शन' कह सकते हैं। इसे सीखने की आवश्यकता नहीं, यह जन्म से ही सभी में उपस्थित है। परन्तु घंटी की ध्वनि या बल्ब का प्रकाश तो कोई खाने की वस्तु है नहीं, और न कुत्ते सामान्यतः इनके सम्पर्क में आते हैं। निःसन्देह पेवलोव के कुत्ते ने अपने निजी अनुभव से मस्तिष्क में भोजन का संबंध पहले घंटी से और फिर घंटी का प्रकाश से जोड़ा था। मस्तिष्क की कोशिकाओं के बीच इस नए सम्बन्ध के फलस्वरूप अब केवल घंटी या प्रकाश से लार निकलने लगी थी।

चित्र 32 : पेवलोव का कुत्ते पर प्रसिद्ध प्रयोग। चित्र 1 से 6 तक ध्यान से देखिये कि वेपलोव ने 'कन्डीशन्ड रिफलेक्स' का कैसे आविष्कार किया।

पेवलोव ने इसको 'प्रतिबन्धित-प्रतिवर्ती-क्रिया' या 'कन्डीशन्ड रिफ्लेक्स' का नाम दिया।

जन्मजात सामान्य प्रतिवर्ती-क्रियाओं के विपरीत यह नई सीखी हुई प्रतिबन्धित-प्रतिवर्ती-क्रियाएं केवल मस्तिष्क के सबसे उन्नत भाग, यानी सेरीब्रम के स्तर पर ही स्थापित हो सकती हैं। इसीलिये मनुष्य में इनका सर्वाधिक महत्व है। जन्म से उपस्थित प्रतिवर्ती-क्रियाओं को आधार बनाकर हम उनपर एक के बाद एक कई नई कड़ियां जोड़ते चले जाते हैं। पेवलोव सोचने लगे कि जिसे हम शिक्षा कहते हैं वह भी क्या इसी का एक स्वरूप नहीं है। आपस में एक व्यवस्थित भाषा द्वारा बातचीत कर सकने की हमारी अद्भुत क्षमता का आधार भी शायद यही है। हम पहले बच्चे को सड़क पर जाता हुआ हाथी दिखाकर कहते हैं कि "देखो, वह हाथी है"। फिर हाथी का केवल चित्र देखते ही बच्चा फौरन उसे पहचानने लगता है। अन्त में केवल कागज पर लिखे "हाथी" शब्द से ही उसके मस्तिष्क में हाथी की छवि उभर आती है। क्या यह अचरज की बात नहीं क्योंकि "हाथी" शब्द में और उस भीमकाय, लम्बी सूंड वाले, काले चौपाये में तो किसी भी प्रकार की समानता नहीं है। लगता है भाषा मानव मस्तिष्क की एक सबसे बड़ी उपलब्धि है। क्या भाषा के बिना आज के मानव समाज की कल्पना की जा सकती है? क्या विज्ञान, साहित्य या व्यापार संभव है अगर हम एक दूसरे को भाषा के द्वारा अपने विचार न बता सकें, या लिखकर उन्हें स्थाई न कर सकें? आजकल वैज्ञानिक हमारे सबसे निकट संबंधी—शिम्पेन्ज़ियों को भाषा सिखाने का प्रयास कर रहे हैं, परन्तु यह स्पष्ट है कि उनमें यह क्षमता, हमारी तुलना में नहीं के बराबर है।

पेवलोव के विचारों व उनके व्यक्तित्व का आधुनिक जीव-विज्ञान पर भारी प्रभाव पड़ा है। जब 1904 में उन्हें नोबेल पुरस्कार प्रदान

किया गया तब यह सम्मान पाने वाले वह पहले रूसी नागरिक थे। सोवियत संघ में विज्ञान को आज जो व्यापक महत्व दिया जाता है उसका बहुत कुछ श्रेय पेवलोव को है।

अभी तक हमने मस्तिष्क के बारे में जो कुछ सीखा वह अधिकांश प्रयोगशाला में चूहे, कुत्ते, बन्दर आदि पर किये गये प्रयोगों पर आधारित है। पिछले कुछ वर्षों में रोजर स्पैरी ने सीधे मानव मस्तिष्क पर कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोग करके सबको आश्चर्यचकित कर दिया है। स्टोकहोम में 8 दिसम्बर 1981 को नोबेल पुरस्कार स्वीकार करते समय उन्होंने अपने भाषण में बताया कि सारे अध्ययन का आरम्भ उन रोगियों से हुआ जिन्हें मिर्गी के बहुत तेज़ दौरे पड़ते थे, और किसी भी दवा से लाभ नहीं हो रहा था। कोई चारा न देखकर अन्त में यह तय किया गया कि क्यों न उनके दोनों सेरीब्रल हेमीस्फीयर को जोड़ने वाले
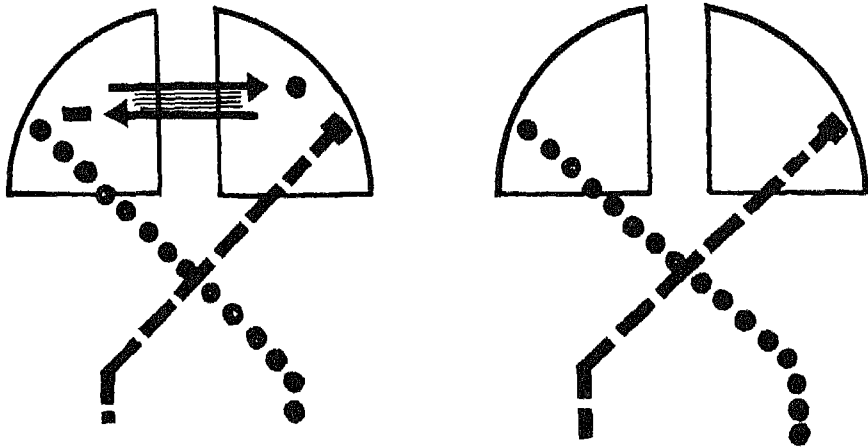
चित्र 33 : रोजर स्पेरी द्वारा मनुष्य में कोरपस केलोसम काट कर 'स्प्लिट-ब्रेन' अवस्था का आश्चर्यजनक निर्माण।

सेतु—कोरपस केलोसम—को बीच में से काट दिया जाए, ताकि एक ओर आरम्भ होने वाली अवांछित उत्तेजना कम से कम दूसरी ओर तो न फैले।

जितने साहस से यह आपरेशन किया गया उससे कहीं अधिक आश्चर्यजनक इसके परिणाम निकले। वैसे प्राचीन कथाओं में दो सिर वाले जानवरों या राक्षसों का वर्णन तो अवश्य मिलता है पर वास्तव में "दो मस्तिष्क" या "स्पिलूट-ब्रेन" वाला व्यक्ति कैसे सोचेगा या क्या करेगा यह कोई नहीं जानता था। रोजर स्पैरी के ही शब्दों में "अगर आपरेशन के छह माह बाद कोई "स्पिलूट-ब्रेन" वाला व्यक्ति किसी पार्टी में भाग लेता तो किसी को भी उसमें कोई असामान्यता नज़र नहीं आती थी। सेरीब्रम के दोनों गोलार्ध स्वतंत्र रूप से अपनी जिम्मेदारी निभाते हुए शरीर के आधे-आधे भाग का संचालन करते रहते थे। परन्तु गहराई से अध्ययन करने पर यह आश्चर्यजनक निष्कर्ष स्पष्ट था कि दोनों सेरीब्रल हेमीस्फीयर की क्षमता में बहुत अन्तर है।" यह तो सभी जानते हैं कि हमारे दोनों हाथों की क्षमता बराबर नहीं है। अधिकांश लोगों में सीधा या दाहिना हाथ कहीं अधिक मज़बूत व कार्यकुशल होता है। यही बात सभी जानवरों में भी देखी जा सकती है। इससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि हमारा बायां सेरीब्रल हेमीस्फीयर अधिक प्रभावशाली है, और एक कक्षा के मोनीटर की तरह दूसरे हेमीस्फीयर पर अपना रौब जमाये रखता है।

परन्तु जब रोजर स्पैरी ने दोनों सेरीब्रल हेमीस्फीयर के बीच सम्बन्ध विच्छेद कर दिया तब पहली बार यह अनुमान होने लगा कि हमारी मानसिक क्रियाओं में प्रत्येक का कितना विशिष्ट स्थान है। अगर स्कूल में पढ़ाये जाने वाले विषयों को लें तो दोनों सेरीब्रल हेमीस्फीयर के बीच बंटवारा कुछ इसप्रकार होगा—

बायां हेमीस्फीयर	— भाषा (बोलना, लिखे और सुने शब्दों का अर्थ समझना)
	— गणित
	— समस्याओं का विश्लेषण
	— समय का अनुमान
दायां हेमीस्फीयर	— ज्यामिति (ज्योमैट्री)
	— चित्रकला
	— वाद्य संगीत
	— तथ्यों का संयोजन
	— स्थान का अनुमान

साधारणतया हम क्लास में जो कुछ पढ़ते हैं वह इस क्षेत्र विभाजन के अनुसार दायें या बायें हेमीस्फीयर में संचित हो जाता है। परन्तु कोरपस-केलोसम से जुड़े होने के कारण एक का ज्ञान आवश्यकता पड़ने पर दूसरे के लिए सदा उपलब्ध रहता है। इसके विपरीत रोजर स्पैरी के मरीज़ों की तो बात ही अनोखी थी। जो एक सेरीब्रल हेमीस्फीयर सीखता उसका दूसरे को कुछ भी पता नहीं चलता। एक सरल उदाहरण के तौर पर अगर दायें हाथ की छोटी अंगुली पर पिन चुभाई जाती और बाद में उससे कहा जाता कि अब बायें हाथ से बताओ कि कौन सी अंगुली पर दर्द हुआ तो वह बिलकुल भौचक्का सा रह जाता। बायें हाथ का संबंध दायें हेमीस्फीयर से है, और उसे तो पिन चुभने का बिलकुल ज्ञान ही नहीं।

कितनी लगन और परिश्रम से वैज्ञानिक हमारी बुद्धि का अध्ययन करने में लगे हैं, और कितने रोमांचकारी हैं इनके प्रयोग। विज्ञान का एक आकर्षण यह भी है कि इसके सृजन में हम सभी भाग ले सकते हैं। आप भी देखिये। किसी भी बडी क्लास में कुछ छात्र असामान्य होंगे।

यानी हम सब की तरह दायें हाथ से खेलने, लिखने, खाने के बजाय वह बाँये हाथ का उपयोग करते हैं। क्रिकेट में तो इन खब्बू, या लैफ्ट-हैन्डर खिलाड़ियों की अलग ही शान है। आपके स्कूल या कक्षा में इनका अनुपात क्या है? यह किन विषयों में अधिक अंक प्राप्त करते हैं, या किन में अधिक रुचि लेते हैं। इनकी बोलने की क्षमता कैसी है? पूरे स्कूल को देखें तो क्या लड़कों और लड़कियों में, छोटे बच्चों और बड़ों में, इस दृष्टि से कोई अन्तर है? लेकिन पहले हर चीज़ को नापने के लिए कुछ न कुछ भौतिक मापदण्ड तय करना होगा। बिना इसके किसी भी सही वैज्ञानिक निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन है।

यह सब तथ्य एकत्रित करके अब आप भी रोजर स्पैरी की तरह बैठ कर सोचिये।

□□

9

मशीन के लिये ईंधन

हर मशीन को चलाने के लिये ऊर्जा चाहिये, और यह ऊर्जा प्राप्त की जाती है विभिन्न प्रकार के ईंधन से। इंजन के लिये कोयला, स्कूटर या कार के लिये पेट्रोल, घर में खाना पकाने के लिये कैरोसीन या गैस। इस ईंधन को जलाकर ही हम अपने उपयोग के लिये गर्मी या ऊर्जा प्राप्त करते हैं। देखने में तो यह सब ऊर्जा के श्रोत कितने अलग-अलग नजर आते हैं—कोई ठोस, कोई द्रव्य और कोई गैस। पर रासायनिक दृष्टि से इनमें बड़ी समानता है : सभी कार्बन के रूप हैं। कार्बन, हाईड्रोजन व ऑक्सीजन के यौगिक। इन्हीं को हवा (या ऑक्सीजन) की उपस्थिति में जलाकर हम ऊर्जा की अपनी अधिकांश मांग पूरी करते हैं। पनबिजली और परमाणु-शक्ति ही इसके अपवाद हैं।

यह तो हुई घर और बाहर हमारी मशीनों की बात। पर हमारी शरीर रूपी मशीन को भी तो निरंतर ऊर्जा चाहिए—काम करने के लिये, छोटे से बड़ा होने के लिये, अपनी टूट-फूट की मरम्मत करने के लिये, शरीर को गर्म रखने के लिये। क्या जीवित प्राणियों के लिये ऊर्जा के श्रोत बिलकुल भिन्न हैं? नहीं, हमारा शरीर भी इसी ईंधन पर निर्भर है—कार्बन, हाईड्रोजन और ऑक्सीजन। यह जानकर हमें आश्चर्य अवश्य होगा, परन्तु यह प्रकृति के हमारे अटूट सम्बन्ध को भी दर्शाता

है। ऊर्जा प्राप्त करने का जो सरलतम तरीका प्रकृति में उपलब्ध है वही हमारे शरीर में भी अपनाया गया है। मूलतः शरीर में भी हम वही ईंधन जला रहे हैं जो हम बाहर जलाते हैं।

परन्तु यह कैसे सम्भव है? हम न तो लकड़ी या कोयला खाते हैं, और न पेट्रोल या कैरोसीन पीते हैं। सौभाग्य से हमने जो भोजन अपने लिये चुना है वह इनसे कहीं अधिक स्वादिष्ट, नर्म, और पौष्टिक है। कितनी विविधता है उसमें। कभी पूड़ी और सब्जियाँ, तो कभी ईडली और साम्भर। कभी चावल और मछली, तो कभी मिठाई और नमकीन। पर रूप-रंग के आकर्षण को छोड़कर ज़रा अन्दर झांकें तो यह सब भोजन मुख्यतः तीन प्रकार के पदार्थों को ही मिलाकर बनाया गया है। प्रोटीन, कार्बोहाईड्रेट या शर्करा, और फैट या वसा। अब अपनी दृष्टि और पैनी करके हम इनकी रासायनिक संरचना को देखें तो एक आश्चर्यजनक तथ्य सामने आता है। वही कार्बन, हाईड्रोजन और ऑक्सीजन की भरमार यहां भी है। ईंधन के रूप में यही 3 तत्त्व हम भी ले रहे हैं। बाकी तो पानी, मसाले और अल्प मात्रा में कुछ विटामिन हैं।

शरीर की हर कोशिका तक पहुंचने के लिये आवश्यक है कि भोज्य पदार्थ सरल और घुलनशील स्थिति में हों। हमारे पाचन संस्थान का काम है रासायनिक रूप से जटिल भोज्य पदार्थों को विभक्त कर सरल और घुलनशील बनाना। घुलनशील और छोटे-छोटे अणुओं के रूप में ही आंत से अवशोषित होकर वे रक्त में प्रवेश कर पाते हैं। प्रोटीन, कार्बोहाईड्रेट और वसा के बड़े-बड़े अणुओं को तोड़ने का काम विभिन्न एन्ज़ाइम करते हैं।

सारांश में पाचन क्रिया एन्ज़ाइम द्वारा भोज्य पदार्थों को रासायनिक रूप से छोटे-छोटे अणुओं में विभक्त करना है। एन्ज़ाइम युक्त पाचक रस विशेष ग्रंथियों में बनकर भोजन में आ मिलते हैं। यह

प्रमुख रस लार ग्रंथियों और पैन्क्रियास के अलावा आमाशय व छोटी आंत से श्रावित होकर आते हैं। यकृत से भी पित्त-रस आता है जो वसा के पाचन के लिए आवश्यक है, हालांकि इसमें कोई एन्ज़ाइम नहीं होता।

लेकिन यह कैसी अनोखी बात है कि जो प्रोटीन हम खाते हैं वह तो एन्ज़ाइम द्वारा विघटित कर दिए जाते हैं, पर स्वयं हमारी आंत वैसी ही प्रोटीन की बनी होकर भी अछूती रह जाती है। आमाशय में तो यह समस्या और भी विकट है क्योंकि इसमें तो एन्ज़ाइम के साथ तेज हाईड्रोक्लोरिक अम्ल भी होता है।

अठारहवीं शताब्दी में लजेरो स्पेलेन्जानी ने जब सर्वप्रथम आमाशय रस में हाईड्रोक्लोरिक अम्ल देखा तो निश्चय ही उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ होगा। जीवित शरीर में तेजाब! स्पेलेन्जानी यह जानना चाहते थे कि भोजन का आमाशय में क्या होता है। उन्होंने मांस के छोटे से टुकड़े को एक पतले कपड़े में सीकर उसे एक लम्बे धागे से बांध दिया। फिर उसे स्वयं निगल लिया और कुछ समय बाद बड़े धैर्य और साहस से उसे वापस बाहर खींच लिया। मांस तब तक बिलकुल मुलायम हो चुका था। पर उसके विश्लेषण से जब हाईड्रोक्लोरिक अम्ल का पता चला तो वह आश्चर्यचकित रह गए, क्योंकि ऐसे अम्ल तो केवल रासायनिक प्रयोगशालाओं में ही पाये जाते थे। आज हम जानते हैं कि आमाशय में यह अम्ल न केवल प्रोटीन को पचाने में सहायता करता है वरन् भोजन के साथ आये कीटाणुओं आदि को भी नष्ट कर देता है।

अपने आपको इस तेज़ अम्ल और एन्ज़ाइम से कैसे बचाया जाए? प्रकृति ने इसके लिए एक अनूठी व्यवस्था कर रखी है। मुख्य एन्ज़ाइम आंत में पहुंचने तक सर्वथा निष्क्रिय होते हैं। उनको सक्रिय करने वाला पदार्थ अन्यत्र बनता है। दोनों का मिलन आंत के अन्दर ही होता है और

तभी एन्ज़ाइम सक्रिय होते हैं। इस सक्रिय एन्ज़ाइम से आंत की सतह को और भी बचाने के लिए उसपर चिकने म्यूकस की मोटी तह बिछी रहती है। इस व्यवस्था के टूट जाने पर अक्सर आमाशय में घाव हो जाता है जिसे 'पेप्टिक अल्सर' कहते हैं।

जीवित उत्तकों में इन विघटनकारी एन्ज़ाइम से अपने आपको बचाने की क्षमता को एक प्रयोग द्वारा दिखा सकते हैं।

एक कुत्ते को बेहोश करके हम उसका पेट खोलते हैं। फिर उसके आमाशय में छेदकर उसी के एक गुर्दे को आमाशय में डाल देते हैं। यह ध्यान रखते हैं कि गुर्दे की रक्त वाहिनियों में रक्त संचार ठीक से होता रहे। आमाशय और पेट को बंद कर देने के बाद कुछ समय में कुत्ता होश में आ जाता है। कई दिन बाद भी अगर वापस देखें तो गुर्दा आमाशय में यथावत कार्य करता मिलेगा। परन्तु यदि गुर्दे में रक्त संचार रुक जाये और गुर्दे की कोशिकाएं मर जाएं, तो आमाशय का तेज़ रस उसे कुछ ही घंटों में पचा डालेगा।

हमारी आंतों की एक और विशेषता है जो गागर में सागर वाली कहावत को चरितार्थ करती है। अगर हम आंत को क़रीब चार सेंटीमीटर व्यास का एक तीन मीटर लम्बा सिलिंडर मानें तो उसकी अन्दर की सतह होगी मात्र 0.36 घनमीटर। लेकिन भोजन के शीघ्र अवशोषण के लिए इतनी सी सतह काफी नहीं है। इसलिए आंत की स्लेश्यकला झिल्ली (म्यूकस मेम्ब्रेन) को सपाट न रखकर उसमें साड़ी की पटली की तरह इतनी बारीक चुन्नटें डाल दी गई हैं कि कुल सतह 600 गुना बढ़ जाये। इस प्रकार पाचक एन्ज़ाइम ने तो हमारे भोजन को एक बहुत सरल घोल में परिवर्तित कर दिया और इसके सभी आवश्यक पदार्थ 200 घनमीटर सतह से अवशोषित होकर रक्त में पहुंच गए। अनावश्यक पदार्थ बाहर फेंक दिये गए। यह हुआ हमारे पाचन संस्थान का कार्य।

अगर भोजन करने के कुछ घंटे बाद हम अपने रक्त का परीक्षण करें तो उसमें खाये हुए व्यंजनों को पहचाना ही नहीं जा सकता। सारे प्रोटीन—मांस, अंडा, दूध, दाल—बदल कर सरल अमीनों अम्ल के रूप में आ गये हैं। इसीप्रकार कार्बोहाईड्रेट—चावल, चीनी, मैदा, आलू—ने अब केवल ग्लूकोस का रूप ले लिया है, और घी, मक्खन, तेल आदि विघटित होकर फैटीएसिड एवं ग्लिसरोल बन गए हैं। रक्त में बहते हुए अब यह शरीर की सारी कोशिकाओं में पहुंच जाते हैं, जहां या तो इन्हें ईंधन के रूप में जलाया जायेगा या फिर विभिन्न आवश्यक पदार्थों के निर्माण में उपयोग किया जायेगा।

ईंधन कोशिका में तो पहुंच गया, परन्तु उसके उपयोग के लिए दो चीज़ें और चाहिए। एक तो ऑक्सीजन जिसके बिना हम जानते हैं कि कोई भी चीज़ नहीं जलती और दूसरा कोई बर्नर या भट्टी।

ऑक्सीजन हमारी पृथ्वी पर इतनी बहुतायत में है (वायु का 20 प्रतिशत) कि किसी प्राणी ने इसको शरीर में संग्रहित करने की आवश्यकता नहीं अनुभव की। इसीलिए हमें आक्सीजन निरंतर श्वास द्वारा लेनी पड़ती है। बिना ऑक्सीजन के हम पाँच मिनट भी नहीं जी सकते। लेकिन पृथ्वी पर ऑक्सीजन समाप्त होने का कोई डर नहीं है, जबतक पेड़-पौधे हमारे साथ हैं। प्रति वर्ष यह पेड़ 65,000 करोड़ टन कार्बनडाईऑक्साइड लेकर हमें 35,000 करोड़ टन आक्सीजन देते हैं। क्या हमें पेड़ पौधों के प्रति आभारी नहीं होना चाहिये?

अमीबा जैसे एककोशिकीय जीव के लिए ऑक्सीजन पाना कोई समस्या नहीं है क्योंकि पानी में घुली ऑक्सीजन सरलता से उसके छोटे से शरीर के हर भाग में पहुंच जाती है। बहुकोशिकीय विशालकाय जीवों में यह सम्भव नहीं क्योंकि उनकी अधिकांश कोशिकायें तो वायुमण्डल के सम्पर्क में ही नहीं आतीं। इसीलिये हमें विशेष श्वसन संस्थान की व्यवस्था करनी पड़ी है।

एक मिनट में लगभग 14 से 18 बार हम अपने सीने को फुलाकर हवा फेंफड़ों में लेते हैं। फेंफड़े एक स्पंज की तरह या मधुमक्खी के छत्ते की तरह सूक्ष्म कोष्ठकों का एक समूह होता है। इसप्रकार दोनों फेंफड़ों की सतह का कुल क्षेत्रफल 80 वर्गमीटर तक हो जाता है जिससे विसरित (डिफ्यूज) होकर आक्सीजन-रक्त में पहुंच जाती है।

दुर्भाग्य से ऑक्सीजन पानी में बहुत घुलनशील नहीं है। साधारणतया 100 मिलीलीटर में मात्र दो-तीन मिलीलीटर ऑक्सीजन ही घुल सकती है। अतः फेंफड़ों से कोशिकाओं तक ऑक्सीजन पहुंचाने के लिए एक विशाल जलयान समुदाय की व्यवस्था की गई है। लेकिन इसके विस्तार का अनुमान तो लगाइये! एक घन मिलीलीटर, यानी एक छोटी सी रक्त की बूंद में 40 से 50 लाख लाल रक्तकण ऑक्सीजन ले जाने वाले जलयान का काम करते हैं। इसप्रकार एक वयस्क व्यक्ति के शरीर में इन लाल रक्तकणों की कुल संख्या 35,000,000,000,000 है। वैसे हर लाल रक्त कण तो केवल 7 माइक्रोन (7/1000 मि. मी.) व्यास की एक तश्तरी की तरह है। पर इन सबको अगर एक लम्बी लाइन में लगा दिया जाये तो क्या आप विश्वास करेंगे कि यह लाइन साल बार पृथ्वी के चारों तरफ घूम जाएगी।

लाल रक्तकणों का रंग उसमें उपस्थित हिमोग्लोबिन के कारण है। सभी बड़े प्राणियों में उसका विकास ऑक्सीजन ले जाने के लिये हुआ है। लाल रक्तकण केवल एक खोखली कोशिका है जिसमें भरा हेमोग्लोबिन ही ऑक्सीजन ले जाने का काम करता है। हेमोग्लोबिन फेंफड़ों में जितनी सरलता से ऑक्सीजन ग्रहण करता है उतनी ही सरलता से कोशिकाओं तक पहुंचने पर उसे छोड़ देता है। लाल रक्तकणों में स्वयं अपने लिये ऑक्सीजन बहुत ही कम चाहिये, क्योंकि केन्द्रक न रखकर प्रकृति ने उन्हें केवल ऑक्सीजन वाहक के रूप में ही विकसित किया है।

ऑक्सीजन को बांधने का काम हेमोग्लोबिन में उपस्थित चार लौह (आयरन) परमाणु करते हैं। इससे हमारे भोजन में लौह-युक्त हरी सब्ज़ी व फलों का महत्व स्पष्ट हो जाता है। लोहे की कमी से हेमोग्लोबिन व लाल रक्त कण घट जाते हैं और चेहरे की लाली फीकी पड़ जाती है। इसे रक्त की कमी या एनीमिया कहते हैं। एक वयस्क व्यक्ति के शरीर में कुल लोहे की मात्रा 4-5 ग्राम ही होती है, दो कील जितनी, और प्रतिदिन केवल 5 मिली ग्राम लोहा भोजन में लेना हमारे लिये पर्याप्त है। हमारे सामान्य भोजन में आवश्यकता से अधिक ही लोहा होता है। इसे टॉनिक मानकर खाना सर्वथा अनावश्यक है, सिवाय एनीमिया के रोगियों के लिए।

कोशिकाओं को ऑक्सीजन पहुंचाने का काम निरंतर करते-करते, 120 दिनों में यह नावें जर्जर हो जाती हैं। इनके स्थान पर नई नावें बराबर बनती रहती हैं। लेकिन अभी तो हम वापस कोशिका में पहुंचते हैं, यह देखने कि इस आक्सीजन का कैसे उपयोग किया जा रहा है।

शरीर की हर कोशिका में ईंधन और ऑक्सीजन तो पहुंच गया, अब केवल एक अच्छे बर्नर या चूल्हे की आवश्यकता है। लेकिन नहीं, एक बर्नर से काम नहीं चल सकता। कोशिका तीन अलग-अलग प्रकार के ईंधन पर निर्भर है। प्रमुख रूप से तो ग्लूकोज (कार्बोहाईड्रेट) पर, परन्तु कभी फैटी-एसिड (वसा) व अमीनों अम्ल (प्रोटीन) पर भी। अगर ईंधन तीन तरह के हैं तो उन्हें जलाने के लिये चूल्हे भी तो तीन तरह के चाहिए। घर में भी हम यही देखते हैं। गैस के लिए बर्नर, कोयले के लिए अंगीठी और कैरोसीन के लिए स्टोव। रसोई में तीन-तीन तरह के उपकरण रखने में गृहिणियों को काफी परेशानी होती है, पर कोई चारा नहीं। कभी गैस समाप्त हो जाती है तो कैरोसीन का सहारा लेना पड़ता है, और वह भी न मिले तो कोयले पर ही खाना बनाना पड़ेगा। भूखे तो रह नहीं सकते।

हमारी कोशिकाओं ने इस समस्या का बड़ा अनोखा हल निकाल लिया है। एक ही बर्नर में तीनों प्रकार के ईंधन आवश्यकतानुसार जलाए जा सकते हैं। इसके लिये पहले रासायनिक क्रिया द्वारा सबको तोड़कर एक जैसे दो-कार्बन-युक्त छोटे-छोटे टुकड़ों में बदल दिया जाता है। ग्लूकोज़, फैटी-एसिड, अमीनों अम्ल सब एक रूप हो गए तो उनके लिये अब अलग-अलग बर्नर की क्या आवश्यकता? इन "दो कार्बन वाले टुकड़ों" को पकड़ कर बर्नर में डालने का काम एक बहुत महत्वपूर्ण एन्ज़ाईम करता है। इसकी तुलना हम इंजन में खड़े उस व्यक्ति से कर सकते हैं जो फावड़े में कोयले भर-भर कर, बॉयलर में डालता रहता है। फ्रिट्ज लिपमेन द्वारा आविष्कृत यही "को-एन्ज़ाइम-ए" आधुनिक रसायन-शास्त्र की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

अब उस बर्नर या भट्टी का भी अवलोकन करें जिसमें ईंधन जला कर वास्तव में ऊर्जा उत्पन्न की जा रही है। लेकिन इसको भट्टी कहना उचित नहीं है, क्योंकि न तो इसमें आग है और न गर्मी। हो भी कैसे सकती है, जब हमारे शरीर का, और इसप्रकार सब कोशिकाओं का तापमान तो 37° C पर स्थिर रहता है। हमारी कोशिकाएं तो 70° C पर ही नष्ट होने लगती हैं। इसलिये ईंधन को बिना आग जलाए, एक लम्बी रासायनिक प्रक्रिया द्वारा सीधे ऊर्जा में परिवर्तित कर दिया जाता है। इस सारी क्रिया को बर्नर या भट्टी न कहकर एक चक्की कहें तो शायद अधिक उपयुक्त होगा। यह सिलसिला आरम्भ होता है एक चार कार्बन से बने आक्सेलो-एसिटिक-एसिड से। इसमें को-एन्ज़ाईम-ए ईंधन का दो-कार्बन टुकड़ा डाल कर इसे 6-कार्बन वाला साईट्रिक-एसिड बना देता है। वही साईट्रिक-एसिड जो नींबू के खट्टेपन का कारण है। अब कई एन्ज़ाईम एक के बाद एक सक्रिय होकर वापस इस साईट्रिक-एसिड को उसी 4-कार्बन युक्त आक्सेलो-एसिटिक-एसिड में बदल देते हैं, जिससे क्रम आरम्भ हुआ था। इसप्रकार चक्की के एक
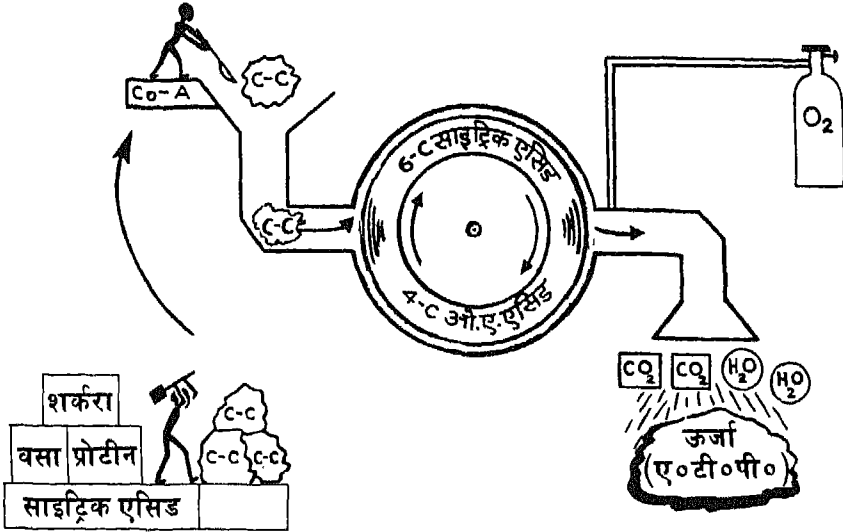
चित्र 34 : क्रेब्स साइकल का सरल रूप। भोजन में खाए गए कार्बोहाईड्रेट, फैट और प्रोटीन नीचे बाएं कोने में दिखाए गए हैं। ऊपर क्रेब्स की एक ही एन्जाईम चक्की में इनके टुकड़ों को पीसकर (या जलाकर) ऊर्जा उत्पन्न की जा रही है।

फेरे में 2 कार्बन और 2 हाईड्रोजन, ऑक्सीजन के साथ पीसकर, कार्बनडाईऑक्साईड और पानी में परिवर्तित हो जाते हैं और इस रासायनिक प्रक्रिया में निकलती है पर्याप्त मात्रा में ऊर्जा। कोशिका को ऊर्जा मिल गई; ईंधन का एक 2-कार्बन टुकड़ा काम आ गया; कार्बन-डाई-ऑक्साईड व पानी को शरीर से बाहर निकालने के लिये रक्त में डाल दिया गया। यह क्रम माईटोकोन्ड्रीया में निरन्तर दोहराया जाता है जहाँ यह सब एन्ज़ाईम स्थित हैं।

इन सारी जटिल प्रक्रियाओं को खोज निकालने का श्रेय जर्मनी के हांस क्रेब्स को है। उन्हीं के नाम पर आज हम इसे क्रेब्स साईकिल या क्रेब्स चक्र कहते हैं। लिपमेन और क्रेब्स को संयुक्त रूप से 1953 में

नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया था।

कोशिका में ऊर्जा को संग्रहित रखने की भी एक अनूठी व्यवस्था है। ज्योंही क्रेब्स साईकिल में ऊर्जा उत्पन्न होती है वैसे ही वह 2 विशेष यौगिकों–एडिनोसिनट्राईफॉस्फेट व क्रियेटनीनफॉस्फेट में संचित हो जाती है। ताप के रूप में ऊर्जा व्यर्थ चारों ओर नहीं फैलती और न कोशिका ही इतनी गर्म होती है कि नष्ट हो जाए। इसकी तुलना एक साधारण वाष्प इंजन से कीजिए। उसमें ऊर्जा का केवल 10-12% ही गाड़ी को खींचने में काम आता है, बाकी सब व्यर्थ ही जाता है। परन्तु कोशिका में उत्पन्न ऊर्जा का 60-70% उसी समय ए०टी०पी० के रूप में संचित हो जाता है, आवश्यकतानुसार काम में लेने के लिये।

इस सारी व्यवस्था की तुलना हम अपने दैनिक जीवन के अनुभव से करें तो और अच्छी तरह समझ पाएंगे। ए०टी०पी० जेब में रखे रुपयों की तरह है, जिसे फौरन खर्च करके हम अपना निर्वाह कर सकते हैं। जब जेब ख़ाली हो जाती है तो, हम बैंक से पूर्व संचित रुपये निकाल लेते हैं। क्रियेटेनीनफॉस्फेट बैंक में जमा रुपये की तरह हैं। हमारा बैंक खाता भी समाप्त हो सकता है अगर हम रोज़ काम करके, नौकरी करके, रुपयों की बचत न करें। इसीप्रकार कोशिका को भी क्रेब्स साईकिल में ईंधन जलाकर सारी मेहनत करके ही ऊर्जा एकत्रित करनी पड़ती है। चाहे हम हों या हमारी कोशिकाएं, धन हो या ऊर्जा, खर्च करने के साथ-साथ स्वयं अर्जित करना भी उतना ही आवश्यक है।

□□

10

कृत्रिम अंगों के बैंक

जैसे जैसे शरीर की सूक्ष्म संरचना व उसमें होने वाली जटिल प्रक्रियाओं के बारे में हमारा ज्ञान बढ़ता जा रहा है, हम सोचने लगे हैं कि मानव शरीर भी एक अति जटिल मशीन है। भोज्य पदार्थ इसके ईंधन हैं और उम्र के साथ होने वाले परिवर्तन मशीन के कल पुर्ज़ों के घिसने के समान हैं। वास्तव में हमारे शरीर में अनवरत होने वाली टूट-फूट की मरम्मत भी सदा चलती रहती है। टूट-फूट और मरम्मत के पारम्परिक संतुलन के कारण ही हमारे शरीर की यह अद्‌भुत मशीन वर्षों तक सुचारू रूप से चल सकती है।

मशीन हो या शरीर, मरम्मत की व्यवस्था जितनी कुशल और निष्ठावान होगी उसकी आयु उतनी ही अधिक होगी। यही कारण है कि मनुष्य 120 वर्ष तक जीवित रह सकता है। पृथ्वी पर हमारे साथ कितने ही प्रकार के पशु पक्षी रह रहे हैं पर क्या आपने कभी विचार किया है कि इनमें से किसी की भी उम्र मनुष्य के बराबर नहीं! केवल एक विशेष प्रकार का कछुआ ही इसका अपवाद है जो 200 वर्षों तक सामान्यतः जीवित रह सकता है। किस प्रकार हमारे शरीर की मरम्मत व्यवस्था इतने समय तक शरीर को अक्षुण्ण बनाए रखती है और क्यों कुछ लोगों में टूट-फूट की मरम्मत सुचारू रूप से न होने के कारण वृद्धावस्था जल्दी
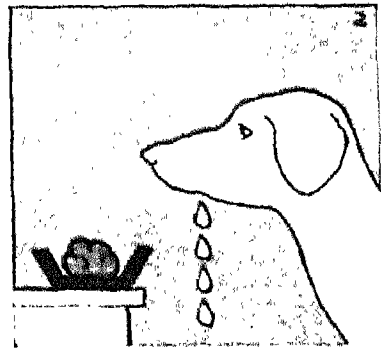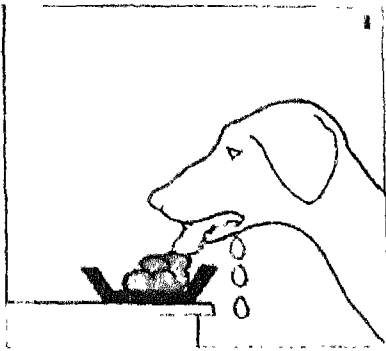
गलती से पृष्ठ 92 और 109 के चित्र आपस में बदल गए हैं। पाठक कृपया सुधार कर पढ़े।

चित्र 35
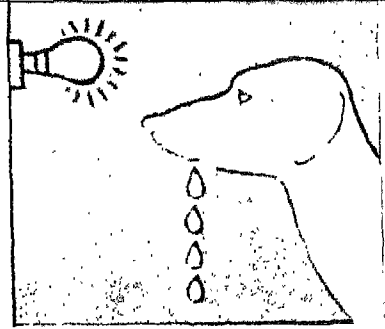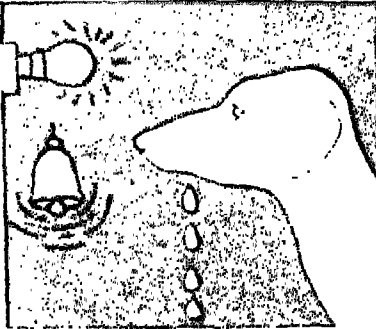
सभी सामान्य कार्य कर सकते हैं।

लेकिन शरीर पर बाहर कृत्रिम अंग लगाना एक बात है और शरीर के अन्दर उनका प्रत्यारोपण सर्वथा भिन्न। यह नहीं है कि प्रत्यारोपण के लिए अधिक शल्य दक्षता चाहिए। कठिनाई यह है कि शरीर, प्रत्यारोपित अंग को अस्वीकार कर देता है और यह शरीर की रक्षा के लिए ऐसा करता है। देखने में यह एक विडम्बना सी लगती है कि जिस अंग की क्षति से स्वयं शरीर नष्ट होने को है, उसी को बदलने और प्रत्यारोपण करने पर उसे अस्वीकार करना कैसे शरीर की रक्षा है? यह तो रक्षक ही भक्षक होने वाली बात हुई। लेकिन अगर गौर से विवेचन करें तो बात ऐसी नहीं है।

हमारा शरीर, चारों ओर हर समय दुश्मन रोगाणु और जीवाणुओं से घिरा रहता है। कण-कण में हज़ारों ऐसे जीवाणु घात लगाये बैठे रहते हैं जो शरीर में प्रवेशकर आतंककारियों की तरह इसे नष्ट-भ्रष्ट करने को आतुर रहते हैं। शरीर के रक्षा संस्थानों को देश की सीमा सुरक्षा बलों की तरह हर वक्त जागरूक रहना पड़ता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि शरीर के रक्षा संस्थान इन विदेशी घुसपैठियों को पहचान सकें। लेकिन यह विदेशी घुसपैठिये रोगाणु लाखों प्रकार के होते हैं। एक बार पकड़े जानेपर तो उसके बारे में जानकारी हासिल की जा सकती है लेकिन प्रत्येक को अलग-अलग पहचानना संभव नहीं। शरीर की रक्षक कोशिकाओं में यह असाधारण क्षमता होती है कि वे स्वयं शरीर की प्रोटीन के अलावा किसी भी अन्य प्रोटीन को पहचान सकती हैं। हर रोगाणु एक विशिष्ट प्रकार की प्रोटीन का बना होता है और इसीकारण शरीर की रक्षक कोशिकायें इसे स्वयं की प्रोटीन से अलग होने के कारण फौरन पहचान लेती हैं। पहचान ही नहीं लेतीं वरन् उसके विपरीत ऐसी प्रतिरोधक शक्ति का भी विकास कर लेती हैं कि सदा

उनको तत्परता से नष्टकर बाहर फेंक सकें और शरीर को उनके आक्रमण से बचा सकें।

शरीर में अन्य किसी व्यक्ति के अंग इसीलिए स्वीकार नहीं होते कि उनकी प्रोटीन शरीर के प्रोटीन से भिन्न होती है अतः शरीर की रक्षक कोशिकाएं उनके साथ वैसा ही सलूक करती हैं जैसा अन्य रोगाणुओं के साथ। कैसी अद्भुत है यह क्षमता कि हमारे भाई बहन या माता पिता का भी कोई अंग सामान्यतया हमारा शरीर स्वीकार नहीं करेगा। इसका एकमात्र अपवाद है मोनोओबुलर टिवनस यानी एक ही बिम्ब से उत्पन्न जुड़वां बच्चे।

प्रत्यारोपण की इस कठिनाई को दूर करना कैकफार्लेन और पीटर मेडावर के अत्यन्त महत्वपूर्ण अनुसंधानों से सम्भव हो सका। इसके लिए उन्हें 19वें नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। उन्होंने पता लगाया कि किसप्रकार शरीर के रक्षा संस्थान को कुछ समय के लिए निष्क्रिय किया जा सकता है। आज कई औषधियों के प्रयोग से भी यह सम्भव है और इसी का सहारा लेकर चिकित्सक अंग प्रत्यारोपण करते हैं। शरीर का सर्वाधिक बदला जाने वाला तंतु है रक्त। उसके अलग-अलग ग्रुप की जानकारी से आज यह सम्भव है कि हम रोगी को, उसके स्वयं के रक्त के अनुरूप ही रक्त दें। सौभाग्य से रक्त के मुख्य चार ही ग्रुप होते हैं। चूंकि रक्त को कुछ अर्से तक रेफ्रीजरेटर में आसानी से रखा जा सकता है, अतः आज रक्त बैंक बन गये हैं, जहां हर ग्रुप के रक्त तैयार मिलते हैं। सभी मनुष्यों का रक्त इस दृष्टि से एक समान नहीं है। सन् 1930 में लैन्डस्टाईनर को इस महत्वपूर्ण आविष्कार के लिए नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

अन्य बदले जाने वाले अंग हैं शरीर के विभिन्न प्रकार के जोड़। पहले स्टील के और अब अच्छे प्लास्टिक के बने जोड़ उपलब्ध हैं।

रासायनिक रूप से अब यह निश्चित कर लिया गया है कि कौन से पदार्थों को शरीर की रक्षक कोशिकाएं अपने जैसा ही मानकर स्वीकार कर लेंगी। इन पदार्थों का हुबहू और जटिल से जटिल जोड़, आज आसानी से बनाया जा सकता है। हर आकार के, हर प्रकार के जोड़ उपलब्ध हैं।

बुढ़ापे में कूल्हे की हड्डी टूटना काफी आम है। ऐसे में हड्डी का जोड़ बनाने वाला भाग अक्सर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। इन टुकड़ों को निकालकर उनकी जगह स्टील का जोड़ लगाना आज हमारे देश में प्रतिदिन सैकड़ों लोगों में होता है। अमेरिका में इस समय प्रति वर्ष एक लाख दस हज़ार व्यक्तियों में कूल्हे का और घुटने का पूर्णतया कृत्रिम जोड़ लगाया जा रहा है।

इन जोड़ों को लगाने या हड्डी के टूटे भाग जोड़ने के लिए वैसी ही कील, पत्ती और स्क्रू की ज़रूरत होती है जैसी लकड़ी या स्टील की चीज़ें बनाने में और उन्हें उसीतरह बर्मे से छेदकर ठोका या कसा जाता है। अतः आज वैज्ञानिक सरेस जैसा पदार्थ बनाना चाहते हैं जिससे कृत्रिम जोड़ हड्डी में चिपकाये जा सकें और जिससे टूटी हड्डियों को आपस में जोड़ा जा सके।

रक्त वाहक नली अगर अवरुद्ध हो जाये तो उससे रक्त पाने वाले भाग नष्ट हो सकते हैं। शरीर के अधिकांश भागों में आस-पास की नलियाँ आपस में इसप्रकार जुड़ी होती हैं कि किसी एक नली के अवरुद्ध होनेपर रक्त दूसरी ओर से उस भाग को पहुंच जाता है। लेकिन अगर मुख्य रक्तवाहक नली अवरुद्ध हो जाये तो मुश्किल हो जाती है। हम देख चुके हैं कि हृदय को अपने कार्य के लिए रक्त देने वाली कोरनरी धमनियाँ ऐसी होती हैं। अगर यह अवरुद्ध हो जाये तो हृदय का वह भाग नष्ट हो जाता है और हृदय काम करना बन्द कर सकता है। तब यह आवश्यक होता है कि शरीर के किसी अन्य भाग से किसी शिरा का

छोटा-सा टुकड़ा लेकर उसे कोरनरी से इसप्रकार जोड़ा जाए कि वह आगे चला जाए। यही है कोरोनरी बाईपास सर्जरी, जो आज हृदय रोग के लिए व्यापक रूप से की जाने लगी है।

हृदय में स्थित वाल्व या कपाटिकाएं, जो रक्त संचार का नियंत्रण करती हैं, आज बड़ी आसानी से बदली जा सकती हैं। बीमारी से नष्ट होनेपर इसको बदलना आवश्यक हो जाता है। अगर ऐसा न किया जाए
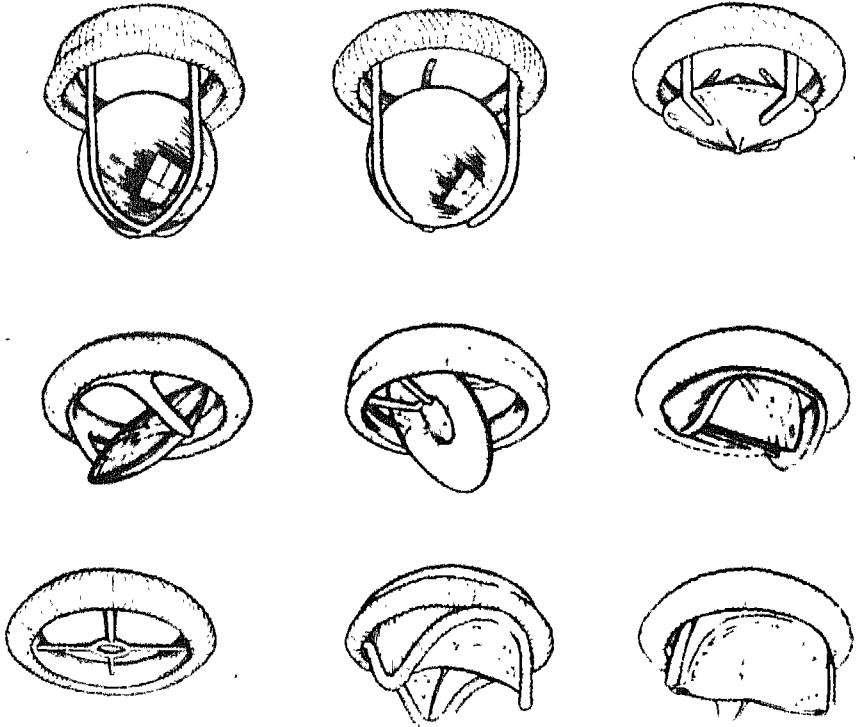
चित्र 36 : हृदय में लगाए जाने वाले विभिन्न प्रकार के कृत्रिम वाल्व।

तो हृदय के कार्य में गम्भीर बाधा पड़ती है और जीना दूभर हो जाता है। आज अलग-अलग कई प्रकार के वाल्व तैयार मिलते हैं जो हृदय में लगाए जा सकें। पहले मृत व्यक्ति से और सूअर के हृदय से लिए वाल्व लगाए जाते थे, लेकिन अब तो कृत्रिम वाल्व इतने अच्छे बनने लगे हैं कि इनका प्रचलन खत्म हो गया है।

साउथ अफ्रीका के सर्जन डॉ० क्रिश्चियन बर्नार्ड ने जब पूरा हृदय सफलतापूर्वक एक दुर्घटनाग्रस्त मृत व्यक्ति से लेकर रोगी में प्रत्यारोपित किया, तो विश्व में तहलका मच गया। अंग बदलने की यह घटना शल्य चिकित्सा में एक नया कीर्तिमान था। तब से इस विषय में काफी तकनीकी प्रगति हुई है। अनेक हृदय प्रत्यारोपण सफलतापूर्वक किये गये हैं।

लेकिन चिकित्सा वैज्ञानिकों का प्रयत्न तो यह है कि एक दिन मानव हृदय को एक कृत्रिम पम्प से बदला जा सके। इस दिशा में डॉ० रोबर्ट जारविक द्वारा निर्मित जानविक-7 कृत्रिम हृदय का कुछ रोगियों पर परीक्षण भी किया जा चुका है। किन्तु अभी सीने में लगे इस पम्प को चलाने के लिए भारी भरकम मशीन तो बाहर ही रखनी पड़ती है। बार्नें क्लर्क पर 1982 में पहली बार प्रयोग में लाने के बाद से इसमें अनेक सुधार किए गए हैं और अनुसंधान जारी हैं।

कृत्रिम गुर्दे तो अभी ऐसे नहीं बने हैं जिनको गुर्दे की जगह लगाया जा सके लेकिन ऐसी मशीन अवश्य बन गई है जो गुर्दे की तरह रक्त को साफ़ कर सके। जिनके गुर्दे काम नहीं करते उनका रक्त सप्ताह में दो बार या आवश्यकतानुसार साफ़कर उनके शरीर में लौटा दिया जाता है। वैसे यह तो अब आम जानकारी है कि जांच के बाद उपयुक्त टाइपिंग और ग्रुप का गुर्दा मृत या जीवित व्यक्ति से लेकर रोगी में प्रत्यारोपित किया जा सकता है।

आंखों की पुतली के सामने स्थित पारदर्शी कोर्निया तो किसी भी मनुष्य का दूसरे मनुष्य में लगाया जा सकता है। इसके लिए तो टाईपिंग और मैचिंग की भी जरूरत नहीं होती। पारदर्शी होने के लिए प्रकृति ने इसे रक्त वाहिनियाँ विहीन बनाया है। अत: अस्वीकार करने वाली रक्त कोशिकाएं इस तक नहीं पहुंच सकतीं। प्रत्यारोपण शल्य चिकित्सा में सबसे सरल और संतोषप्रद यही है। अंधे को रोशनी मिल जाये इससे अधिक संतोषप्रद क्या हो सकता है! बस केवल कोर्निया चाहिए। अगर मरने वाले के संबंधियों को आपत्ति न हो तो नेत्रदान करने वाले की आंखों से यह पारदर्शी कोर्निया निकाल लिए जाते हैं और दूसरे की आंखों में लगा दिये जाते हैं। नेत्रदान करने वाले की पूरी आंख निकालने की आवश्यकता ही नहीं होती, केवल कोर्निया हटा लिया जाता है।

बहरापन एक व्यापक और विकट समस्या है। बहरा व्यक्ति सबके बीच रहते हुए भी अपने आपको बिलकुल अकेला महसूस करता है। बच्चों में तो यह समस्या और भी गम्भीर हो जाती है। जो जन्म से ही नहीं सुन पाता वह तो बोलना भी नहीं सीख पाता। कम सुनने वाले बच्चे का बौद्धिक विकास भी अधूरा रह जाता है। आपने बहरे लोगों को 'हियरिंग एड' लगाए देखा होगा। आज इनके ऐसे सुन्दर और छोटे रूप उपलब्ध हैं कि सहज ही दिखाई भी नहीं पड़ते हैं।

शल्य चिकित्सक आज बहरेपन के इलाज के लिये कान की छोटी हड्डियों और पर्दे (टिम्पेनिक मेम्ब्रेन) का प्रत्यारोपण करने लगे हैं। हो सकता है आज जो बहरापन ठीक नहीं होता है उसके लिए ऐसे उपकरण बनें जो ध्वनि तरंगों को ग्रहणकर उन्हें विद्युत संकेतों के रूप में सीधे मस्तिष्क तक पहुंचायें।

हमारा यकृत या लीवर एक विलक्षण प्रयोगशाला है जहां सैकड़ों रासायनिक प्रक्रियाएं शरीर के उपयोग के लिए निरंतर होती रहती हैं। क्षतिग्रस्त होनेपर लीवर की कोशिकाएं अपनी जैसी नई कोशिकाओं के

निर्माण की क्षमता रखती हैं और कुछ हद तक क्षति पूर्ति कर लेती हैं। जिन अंगों में अपनी जैसी नई कोशिका बनाने की क्षमता होती है, उन कोशिकाओं को उपयुक्त पोषण तत्वों के मिश्रण में उपयुक्त तापपर रखकर परखनली में उगाया जा सकता है।

गम्भीर रूप से जले रोगी की त्वचा से आज उसकी कोशिकाओं को लेकर उसे उगाया जाता है और इसतरह बनी त्वचा की झिल्ली से उसके घाव ढंके जाते हैं। ऐसा करने से आज अनेक गंभीर रूप से जले व्यक्ति भी बच जाते हैं।

यकृत की कोशिकाओं को भी बाहर उगाया जा सकता है। लेकिन आज यह सम्भव नहीं है कि उनसे नया यकृत बन सके। भविष्य में अगर वैज्ञानिक इन कोशिकाओं का रासायनिक मार्गदर्शन कर उन्हें यकृत बनाने को प्रेरित कर सकें तो रोगी के स्वयं के तंतुओं से ही अंगों का निर्माण किया जा सकेगा। फिर तो जैसे फैक्ट्री में आर्डर पर पुर्ज़े बनते हैं वैसे ही अंगों का निर्माण हुआ करेगा।

□□

11

भविष्य के मानव-मशीन के मॉडल

बीसवीं शताब्दी में जहां मशीनों का हर क्षेत्र में व्यापक उपयोग हुआ है, वहीं उनके डिज़ाइन और कार्यकुशलता में भी निरंतर परिवर्तन आया है। कहां राइट बन्धुओं द्वारा 1903 में बनाया गया प्रथम हवाई-जहाज और कहां आज के जम्बो जेट! कहाँ 40 वर्ष पहले का चाबी से चलने वाला भारी भरकम ग्रामोफोन और कहां आधुनिक ट्रांजिस्टर-युक्त छोटा-सा कैसेट-प्लेयर! हर वर्ष मशीनों के नए-नए मॉडल आते रहते हैं—पहले से अधिक उन्नत, सुन्दर और सुविधाजनक।

पर क्या यही बात इस मानव-मशीन पर भी लागू हो सकती है? या कि इस जीवित मशीन का मॉडल हमेशा ऐसा ही था, ऐसा ही रहेगा। नहीं, इसमें भी परिवर्तन अवश्य हो रहा है। जरा रामापिथेकस और होमो-इरेक्टस की तुलना अपने आपसे तो कीजिये। मॉडल कितना बदल गया है। पर हां, इस परिवर्तन में 10-12 वर्ष नहीं, लगभग 1 करोड़ वर्ष लगे हैं।

संभव है कि आगे परिवर्तन की गति इससे कहीं अधिक तेज़ हो। पिछले कुछ वर्षों में जीन-इंजीनिरिंग की दिशा में जो आश्चर्यजनक प्रगति हुई है उससे हो सकता है कि हम अपने शारीरिक विकास को स्वयं नियंत्रित कर सकें। हमें आशा करनी चाहिये कि मानव बुद्धि

चित्र 37

जीन–इंजीनियरिंग व परमाणु शक्ति जैसी अद्भुत वैज्ञानिक उपलब्धियों का उपयोग सर्वनाश के लिये नहीं, बल्कि हम सबके कल्याण के लिये करेगी। तो आइये, इस आधार पर मानव के भविष्य की कुछ कल्पना करें।

सबसे प्रमुख संभावना या आशा तो यही है कि हमारा मस्तिष्क जिसपर हमें वास्तव में इतना गर्व है, और भी अधिक बड़ा, विकसित और प्रभावशाली बन जायेगा। आज से लगभग 15 लाख वर्ष पहले मानव मस्तिष्क का आयतन केवल 680 मिली लिटर था। 5 लाख वर्ष पहले यह बढ़कर 1000 मिली लिटर तक पहुंच गया, और आज तो लगभग 1500 मिली लिटर है। कई वैज्ञानिक कहानियों और बच्चों की चित्रकथाओं में भी भविष्य के मानव का सिर काफी बड़ा दिखाया जाता है।

परन्तु क्या कंप्यूटर के विकास की तरह ही मस्तिष्क की केवल बौद्धिक क्षमता ही बढ़ती जायेगी? अधिक महत्वपूर्ण तो यह होगा कि भविष्य में हमारा विवेक हमारे जन्मजात व्यवहार को पूर्णतया नियंत्रित

कर सके। अर्थात हमारे नियो-कोरटेक्स का हमारे लिम्बिक सिस्टम पर नियंत्रण आज से कहीं अधिक प्रभावशाली हो जाये। तभी हम क्रोध, ईर्ष्या, स्वार्थ और हिंसा जैसी भावनाओं से ऊपर उठ सकेंगे। सर चार्ल्स शैरिंगटन के शब्दों में मानव मस्तिष्क दूसरों के दुख को भी अपने दुख की ही तरह अनुभव करने लगेगा। इस "आलट्रइज्म" को ही शैरिंगटन ने मस्तिष्क की सबसे बड़ी उपलब्धि माना है। ज़रा सोचिये, यह क्षमता दूसरे प्राणियों में आज भी हमसे कितनी कम है। हमारी इसी क्षमता से प्रेरित होकर आदिकाल से सभी महापुरुषों ने न्याय और अहिंसा पर आधारित एक आदर्श समाज की कल्पना की है।

प्राकृतिक विकास के द्वारा हमारे शरीर को परिवर्तित होने में तो हज़ारों वर्ष लगेंगे, पर कृत्रिम अंगों के बढ़ते प्रयोग से शायद हम जल्दी ही इसमें भारी फेर बदल करने लगें। कृत्रिम हृदय, धातु के बने जोड़, फ्लोरोकार्बन यौगिकों से बना रक्त, गुर्दे के स्थान पर छोटी डायलिसिस मशीन, आंखों में कृत्रिम लैंस आदि आज उपलब्ध होने लगे हैं। इलेक्ट्रोनिक उपकरण और माईक्रो-कंप्यूटर लगाकर इन्हें और अधिक प्रभावशाली बनाया जा रहा है, ताकि यह हमारी इच्छा व आवश्यकता को स्वयं भांप सकें और उसी के अनुसार काम करें। लेकिन सबसे विस्मयकारी प्रश्न है मस्तिष्क का। क्या भविष्य में कभी मस्तिष्क का प्रत्यारोपण भी सम्भव हो सकेगा? या ऐसे विकसित सुपर-कंप्यूटर बन सकेंगे जिन्हें अपना सब मानसिक काम सौंपकर हम निश्चिंत हो सकें? यह प्रश्न आज बहुत महत्वपूर्ण हो गया है। अभी तक तो समझा जाता था कि मस्तिष्क की कोशिकाओं में विभाजन की क्षमता नहीं होती। प्रतिदिन लगभग 10,000 कोशिकाएं हमारे मस्तिष्क में नष्ट हो जाती हैं और इनके स्थान पर कोई नई कोशिका जन्म नहीं लेती। परन्तु हाल ही में कुछ ऐसे प्रयोग किये गए हैं जिनमें नवजात चूहे से ली गई, या परखनली में उगाई गई, तंत्रिका-कोशिकाएं वयस्क चूहे के मस्तिष्क में

प्रत्यारोपित करने पर जीवित रहकर अपना काम करने लगीं। एक तरह से उचित परिस्थितियों में इन "शिशु कोशिकाओं" ने वयस्क मस्तिष्क में जड़ें पकड़ लीं। जेफ़री रेसमेन और स्टीव ड्यूनेट ने देखा है कि इस प्रकार के प्रत्यारोपण से बहुत बड़े चूहों की स्मरण शक्ति में सुधार होने लगता है। सम्भवतः इसप्रकार भविष्य में हम अपने मस्तिष्क को जीवन के अन्तिम दिनों तक पूरी तरह सक्षम और चुस्त रख सकें। साथ ही उन मन्द बुद्धि वाले बच्चों को बुद्धिमान बना सकें जिनके लिए आज हम कुछ भी नहीं कर सकते।

अब कल्पना कीजिये कि इन सब कृत्रिम साधनों से युक्त मानव शरीर को हम क्या कहेंगे। क्या वह सही अर्थ में एक मानव-मशीन नहीं बन जाएगा? जीवित प्राणी और जड़ मशीनों का सम्मिश्रण! इससे एक आशंका सामने आती है। शरीर के अन्दर और बाहर ज्यों-ज्यों हम मशीनों पर अधिकाधिक निर्भर होते जायेंगे, हमारे शरीर की कार्य क्षमता वैसे-वैसे कम न पड़ती जाए! आज सभी जानते हैं कि लम्बे समय तक अंतरिक्ष में भारहीनता की अवस्था में रहने पर मांसपेशियाँ इतनी कमज़ोर हो जाती हैं कि पृथ्वी पर लौटे अंतरिक्ष यात्री को खड़े रहने में भी कठिनाई होती है। स्वस्थ रहने के लिए हमारे शरीर के हर भाग को उचित व्यायाम मिलते रहना चाहिये। आलडुअस हक्सले ने अपने अत्यन्त रोचक उपन्यास "ब्रेव न्यू वर्ल्ड" में भी ऐसी ही स्थिति की कल्पना की है। सुदूर भविष्य के लोगों को कुछ भी काम नहीं करना पड़ता और न किसी बात की चिंता है। सब कुछ स्वतः मशीनें कर देती हैं। यहां तक कि बच्चें भी फैक्ट्रियों में बनाये जाते हैं। लेकिन सभी को समय-समय पर अस्पताल जाकर ऐसे इन्जेक्शन लगवाने पड़ते हैं जो कुछ समय के लिये शरीर की सब प्रक्रियाओं को खूब तेज़ कर दें, जैसे सुस्त घोड़े को कभी-कभी चाबुक मारकर दौड़ाया जा रहा हो, ताकि वह कहीं दौड़ना ही न भूल जाये। यहां हमें विख्यात दार्शनिक और नोबेल

पुरस्कार विजेटा सर्जन डॉ० एलेक्सिस केरल की यह चेतावनी भी याद रखनी चाहिए कि विज्ञान मनुष्य पर अत्याधिक आराम थोपकर उसके शरीर को बहुत हानि पहुंचा सकता है।

लेकिन इन सब के विपरीत यह भी संभव है कि भविष्य में किसी दिन सहसा हमारा सम्पर्क दूर ग्रहों पर रहने वाले ऐसे प्राणियों से हो जाए जो हमसे कहीं अधिक विकसित और सक्षम हों। उनके ज्ञान और अनुभव का हमारे जीवन पर न जाने क्या प्रभाव पड़े! आखिर यह कैसे मानलें कि सारे ब्रह्मांड में हम अकेले ही हैं!!

□□

Selection of Schools from Urban Areas

In all 24 towns were selected by adopting probability proportional to size sampling, size being the population of the town. In this state 20% of the schools were selected from each selected town of class I category instead of 24 schools, 40% schools from each selected class II town instead of 16 schools and 50% schools from each selected class III town instead of 8 schools. All schools were selected from the selected class IV, class V and VI towns. The above change was made to get the required number of schools from the urban areas. Schools in the selected towns were selected by adopting simple random sampling. Category wise number of selected towns along with number of schools selected has been given in Table 7.2.

TABLE 7.2

Number of Selected Towns alongwith Number of Schools Selected

Category of town	Number of selected towns	Number of schools selected
1	2	3
I	3	138
II	3	30
III	5	45
IV	10	84
V & VI	3	7
Total	24	304

Schools Covered under the study

The analysis [illegible] was done in [illegible] schools located in rural areas and 235 schools in urban areas. The questionnaires from the remaining schools were either not received or rejected at the time of scrutiny due to incomplete/inconsistent information given in them.

Promotees, Repeater and Dropout Rates

Due to ungraded system of education in classes I and II in the state of Rajasthan, it could not be possible to work out the promotee, repeater and dropout rates for class I and Class II. Table 7.3, 7.4 and 7.5 give these rates starting from class III for the children belonging to all communities, SC and ST categories, respectively.

Table 7.3 pertaining to pupils of all communities reveals that in each class promotee rate is higher and dropout rate is lower in urban schools in comparison to rural schools. Tables 7.4 and 7.5 indicate that in each class promotee rate is higher and dropout rate is lower for SC and ST boys as compared to SC and ST girls. On comparing Tables 7.3, 7.4 and 7.5 it is observed that in each class dropout rate is lower for both boys and girls of all communities in comparison to SC and ST boys and girls.

On the basis of promotee, repeater and dropout rates given in Table 7.3, flow charts have been drawn on the assumption that 1000 pupils enter class III instead of Class I.

Analysis of Efficiency

Some selected indicators already discussed in chapter 2 have been used to summarise the main features of : [illegible]

TABLE 7.3

Promotee, Repeater and Dropout Rates for Pupils of All Communities

Sex/Area	Class	Promotee rate	Repeater rate	Drop out rate
1	2	3	4	5
Boys	III	.8385	.0246	.1369
	IV	.8092	.0663	.1245
	V	–	.0429	–
Girls	III	.8380	.0186	.1434
	IV	.8168	.0657	.1165
	V	–	.0335	–
Total	III	.8384	.0229	.1387
	IV	.8114	.0664	.1222
	V	–	.0402	–
Rural	III	.8145	.0311	.1544
	IV	.7811	.0601	.1588
	V	–	.0344	–
Urban	III	.8582	.0157	.1261
	IV	.8267	.0707	.1026
	V	–	.0440	–

TABLE 7.4

Promotee, Repeater and Dropout Rates for Scheduled Caste Pupils

Sex/Area	Class	Promotee rate	Repeater rate	Dropout rate
1	2	3	4	5
Boys	III	.7631	.0390	.1979
	IV	.7334	.0919	.1747
	V	-	.0510	-
Girls	III	.6205	.0442	.3353
	IV	.6883	.0576	.2541
	V	-	.0599	-
Total	III	.7361	.0394	.2245
	IV	.7254	.0859	.1887
	V	-	.0530	-
Rural	III	.7183	.0342	.2475
	IV	.7348	.0955	.1697
	V	-	.0697	-
Urban	III	.7563	.0452	.1985
	IV	.7170	.0761	.2069
	V	-	.0524	-

TABLE 7.5

Promotee Repeater and Dropout Rate
for Scheduled Tribes Pupils

Sex/Area	Class	Promotee Rate	Repeater Rate	Dropout Rate
1	2	3	4	5
Boys	III	.7845	.0136	.2019
	IV	.7343	.0661	.1996
	V	-	.0598	-
Girls	III	.6865	.0545	.2590
	IV	.6669	.0830	.2501
	V	-	.0753	-
Total	III	.7708	.0195	.2097
	IV	.7246	.0685	.2069
	V	-	.0632	-
Rural	III	.7672	.0075	.2253
	IV	.7232	.0662	.2106
	V	-	.0443	-
Urban	III	.7811	.0501	.1688
	IV	.7280	.0717	.2003
	V	-	.0993	-

internal efficiency at the Primary stage of education. Table 7.6 gives the input/output ratios and overall dropout rates for different categories of children.

TABLE 7.6

Input/Output Ratios and Overall Dropout Rates

Sex/Area	Input/Output ratio			Overall dropout rate(%)		
	All	SC	ST	All	SC	ST
1	2	3	4	5	6	7
Boys	1.22	1.35	1.35	25.5	35.9	37.5
Girls	1.21	1.57	1.53	25.3	52.6	47.2
Total	1.22	1.38	1.37	25.4	39.2	38.8
Rural	1.26	1.38	1.37	30.1	39.6	40.1
Urban	1.19	1.38	1.37	22.5	38.5	35.5

Table 7.6 reveals that input/output ratio as well as overall dropout rate is highest among SC girls. [illegible] input/output ratio as well as overall dropout rate is higher in SC and ST girls in comparison to SC and ST girls in comparison to SC and ST boys. Further the overall dropout rate is higher in rural schools as compared to urban schools.

Percentage output by Number of Repeating Years

Table 7.7 gives the percentage output by number of repeating years.

TABLE 7.7

Percentage Output by Number of Repeating Years

Category	Years repeated	Percentage output				
		Boys	Girls	Total	Rural	Urban
1	2	3	4	5	6	7
All	0	87.11	88.49	87.53	87.98	87.49
	1	11.68	10.57	11.26	11.02	11.48
	2	1.21	0.94	1.21	1.00	1.03
	3	0.00	0.00	0.00	0.00	0.00
SC	0	82.84	84.60	83.22	81.29	83.58
	1	15.13	13.71	14.80	16.23	14.47
	2	1.72	1.69	1.65	2.15	1.63
	3	0.31	0.00	0.33	0.33	0.32
ST	0	86.72	[illegible]	85.62	88.48	79.53
	1	12.00	17.05	12.91	10.52	17.52
	2	1.28	2.46	1.31	1.00	2.48
	3	0.00	0.38	0.16	0.00	0.47

It is observed from Table 7.7 that out of the pupils completing the cycle about 87.5% of them complete class III as well as class IV without repetition. For SC and ST pupils this percentage is 83.22 and 85.62 respectively.

Promotees Profile

Table 7.8 gives promotees profile for different categories of pupils. Class to class movement of the pupils can be seen from this profile.

TABLE 7.8

Promotees Profile

Category	Sex/Area	Classes		
		III	IV	V
1	2	3	4	5
All	Boys	1000	860	745
	Girls	1000	[illegible]51	747
	Total	1000	858	746
	Rural	1000	841	699
	Urban	1000	872	775
SC	Boys	1000	794	641
	Girls	1000	649	474
	Total	1000	766	608
	Rural	1000	744	604
	Urban	1000	79[illegible]	615
ST	Boys	1000	795	625
	Girls	1000	726	528
	Total	1000	786	612
	Rural	1000	773	599
	Urban	1000	822	645

It is noticed from Table 7.8 that number of children who complete the cycle is more in the case of urban schools as compared to rural schools.

<u>Pupil-Years Spent in Excess</u>

Table 7.9 gives pupil-years spent in excess and its percentage with respect to total pupil-years invested.

TABLE 7.9

Pupil-years spent in Excess

Category 1	Item 2	Boys 3	Girls 4	Total 5	Rural 6	Urban 7
All	Optimum pupil-years to be invested	2235	2241	2238	2097	2325
	Total pupil-years invested	2725	2707	2720	2650	2764
	Pupil-years spent in excess	490	466	482	553	439
	%of pupil-years spent in excess to total pupil years invested	17.98	17.21	17.72	20.87	15.88
SC	Optimum pupil-years to be invested	1923	1422	1824	1812	1845
	Total Pupil-years to be invested	2590	2239	[illegible]	[illegible]	2554
	Pupil-years spent in excess	[illegible]67	817	696	694	709
	%of pupil-years spent in excess to total pupil years invested	25.75	36.49	27.62	27.69	27.76
ST	Optimum pupil-years to be invested	1875	1584	1836	1797	1935
	Total pupil-years invested	2529	2420	2516	2463	2654
	Pupil-years spent in excess	654	836	680	666	719
	% of pupil-years spent in excess to total pupil-years invested	25.86	34.55	27.03	27.04	27.09

Table 7.9 reveals that percentage of pupil-years spent

in excess is higher in the case of SC and ST girls as compared to SC and ST boys. Further this percentage is higher for SC and ST children in comparison [illegible] children belo[illegible] [illegible] communities.

Attribution of Pupil-years spent in Excess

Table 7.10 explains that in what proportion the pupil-years spent in excess have been used by the children a) who completed the cycle through repetition and b) by those who dropped out in between without completing the cycle. It is observed that about four-fifths of the pupil-years spent in excess are attributable to dropouts.

TABLE 7.10

Attribution of Pupil-Years Spent in Excess

Category	Item	Boys	Girls	Total	Rural	Urban
1	2	3	4	5	6	7
	Pupil-years spent in excess	490	466	482	553	439
	Excess years attributable to:					
All	a) pupils who completed the cycle through repetition	105 (21.43)	93 (19.96)	102 (21.1[illegible])	91 (16.46)	105 (23.92)
	b) dropouts	385 (78.57)	373 (80.04)	380 (78.84)	462 (83.54)	334 (76.08)
	Pupil-years spent in excess	667	817	696	694	709
	Excess years attributable to:					
SC	a) pupils who completed the cycle through repetition	125 (18.74)	81 (9.91)	116 (16.67)	130 (18.73)	115 (16.22)
	b) dropouts	542 (81.26)	736 (90.09)	580 (83.33)	564 (81.27)	594 (83.78)
	Pupil-years spent in excess	654	836	680	666	719
[illegible]	a) pupils who completed the cycle through repetition	91 (13.91)	122 (14.59)	98 (14.41)	75 (11.26)	154 (21.42)
	b) dropouts	563 (86.09)	714 (85.41)	582 (85.59)	591 (88.74)	565 (78.58)

[illegible]: Figures in parentheses indicate percentages.

UTTAR PRADESH

Uttar Pradesh is the fourth biggest state in the country with an area of 294411 sq. km. It consists of 57 districts. It is the most populous state with a total population of 110862013 as per 1981 Census. Slightly more than 82% of its population were residing in rural areas. The density of population per sq. km. was 377. There were 885 females for every 1000 males. While 21.16% of its population belonged to Scheduled Castes, the proportion of Scheduled Tribes was 0.21% only.

Literacy rate in the state was 27.16% as against All-India literacy rate of 36.23%. There were 38.76% literates among males and 14.04% among females. The percentage of literates in rural areas was 23.06 as against 45.88 in urban areas.

There were 68122 primary, 12049 upper primary, 2182 secondary and 2687 senior secondary schools in the state as per Fourth All-India Educational Survey. The number of schools with primary sections was 70105, of which 62328 (88.91%) were located in rural areas.

According to the Fourth Survey 85.84% of the rural population was served by primary stage schooling facility within a walking distance of 1 km. including 52.97% having access to the facility within the habitation. This survey also reveals that 53.40% of the children in the age-group 6 to below 11 years were in schools, percentages for boys and girls being

72.54 and 32.74 respectively.

Selection of Schools in Rural Areas

The state was divided into nine regions for selecting blocks (PSU) at first instance. Allocation of blocks to be selected from each region was made in proportion to number of blocks in each of them. From each region the requisite number of blocks were selected by employing PPSWR sampling scheme, size being the number of schools with primary sections in the blocks. In all 110 blocks were selected. Eight schools with primary sections (SSU) were selected from each sampled blocks by adopting SRSWOR sampling procedure. Thus 880 schools were selected from rural areas of Uttar Pradesh.

Selection of Schools in Urban Areas

Two-stage sampling procedure, as discussed in Chapter 2, has been adopted here for selection of schools from urban areas. At the first stage of selection 3 towns from category I, 4 from category II, 8 from category III, 19 from category IV, and 31 towns from categories V and VI were selected by adopting PPSWRsampling scheme, size being the population of each town.

At the second stage of selection 24 schools with primary sections from each selected category I town, 16 schools from each selected category II town, and 8 schools from each selected category III town were selected using SRSWOR sampling procedure. All the schools with primary sections of the

remaining selected towns were included in the sample.

Schools covered under the study

The data was analysed in respect of 606 schools in rural areas and 231 schools in urban areas. Since most of the schools covered under the study have reported enrolment of Scheduled Tribes as 'nil', the analysis of data could not be taken up for ST pupils separately.

Promotee, Repeater and Dropout Rates

Tables 8.1 and 8.2 give promotee, repeater and dropout rates for rural and urban areas and for boys and girls of 'All' and SC categories. The tables reveal that classwise promotee rates for boys of SC and all communities are higher than those for girls but by and large the reverse trend is observed in regard to repeater and dropout rates.

TABLE 8.1

Promotee, Repeater and Dropout Rates
for Pupils of all Communities

Sex/Area	Class	Promotee rate	Repeater rate	Dropout rate
1	2	3	4	5
	I	.7735	.1714	.0551
	II	.7813	.1482	.0705
Boys	III	.7037	.1533	.1430
	IV	.7460	.1167	.1373
	V	–	.0283	–
	I	.7669	.1851	.0480
	II	.7375	.1389	.1236
Girls	III	.6504	.1618	.1878
	IV	.6802	.1202	.1996
	V	–	.0347	–
	I	.7716	.1852	.0432
	II	.7616	.1454	.0930
Total	III	.6844	.1556	.1600
	IV	.7292	.1177	.1531
	V	–	.0299	–
	I	.6024	.1829	.2147
	II	.7216	.1517	.1267
Rural	III	.6739	.1452	.1809
	IV	.6736	.1205	.2059
	V	–	.0325	–
	I	.7983	.1854	.0163
	II	.7667	.1445	.0888
Urban	III	.6867	.1573	.1560
	IV	.7391	.1171	.1438
	V	–	.0292	–

TABLE 8.2

Promotee, Repeater and Dropout Rates for Scheduled Caste Pupils

Sex/Area	Class	Promotee rate	Repeater rate	Dropout rate
1	2	3	4	5
Boys	I	.8717	.0971	.0312
	II	.7991	.1322	.0687
	III	.6585	.1523	.1892
	IV	.7743	.1080	.1177
	V	–	.0381	–
Girls	I	.7823	.1546	.0631
	II	.7082	.1482	.14[illegible]6
	III	.6396	.1798	.1806
	IV	.6871	.1127	.2002
	V	–	.0484	–
Total	I	.8501	.1111	.0388
	II	.7798	.1356	.0846
	III	.6552	.1574	.1874
	IV	.757[illegible]	.1104	.1318
	V	–	.0400	–
Rural	I	.7676	.1226	.1098
	II	.7961	.1186	.0853
	III	.6055	.1375	.2570
	IV	.8710	.0936	.0354
	V	–	.0538	–
Urban	I	.8615	.1078	.0307
	II	.7773	.1378	.0849
	III	.6624	.1604	.1772
	IV	.7403	.1113	.1484
	V	–	.0370	–

Furthermore, the pupils of all communities in urban schools have shown better perform[illegible] in terms of [illegible] than their counterparts in rural schools. And classwise dropout rates are higher in rural areas as compared to urban areas. However, no trend emerges in regard to promotee, repeater and dropout rates in the case of pupils belonging to Scheduled Castes.

Analysis of Efficiency

Some selected indicators already discussed in Chapter 2, have been used to summarise the main features of internal efficiency at the primary stage of education.

TABLE 8.3

Input/Output Ratio and Overall Dropout Rates

Sex/Area	Input/Output ratio		Overall dropout rate (%)	
	All	SC	All	SC
1	2	3	4	5
Boys	1.56	1.57	38.5	40.[illegible]
Girls	1.87	1.90	52.3	54.2
Total	1.68	1.62	44.5	43.[illegible]
Rural	2.01	1.59	62.5	4[illegible]
Urban	1.63	1.63	40.9	43.2

Table 8.3 reveals that the overall dropout rate is acute in the case of total enrolment in rural schools (62.5%). It is also noticeable among girls or SC(54.2%) and all

communities (52.3%). The dropout rate is the lowest (38.5%) among boys of all communities.

Input/output ratio is higher among girls than in boys. The education system invested 68% more than the minimum pupil-years required for total enrolment.

Output by Number of Repeating Years

Table 8.4 gives percentage output by number of repeating years. The table clearly shows that slightly

TABLE 8.4

Percentage Output by Number of Repeating Years

Category	Years repeated	Percentage output				
		Boys	Girls	Total	Rural	Urban
1	2	3	4	5	6	7
All	0	50.08	50.52	51.17	50.93	50.93
	1	33.82	32.50	32.25	32.00	32.32
	2	12.52	12.79	12.61	12.27	12.86
	3	3.58	4.19	3.97	4.80	3.89
SC	0	57.41	50.44	55.73	57.55	55.81
	1	30.47	32.53	30.87	30.13	30.81
	2	9.76	12.88	10.58	9.[illegible]2	10.56
	3	2.36	4.15	2.82	2.04	2.82

More than half of the pupils who completed the cycle did so without repeating any class, nearly one-third repeated one year and the remaining pupils repeated two to three years.

Promotees Profile

Promotees profile in respect of pupils of SC and all communities in rural and urban areas is given in Table 8.5. The table shows that about 95% of the pupils who joined class I reached class II.

TABLE 8.5

Promotees Profile

Category	Sex/Area	I	II	III	IV	V
1	2	3	4	5	6	7
All	Boys	1000	932	850	735	615
	Girls	1000	940	803	62[illegible]	477
	Total	1000	946	841	677	555
	Rural	1000	737	625	490	375
	Urban	1000	978	875	[illegible]10	591
SC	Boys	1000	966	888	688	59[illegible]
	Girls	1000	[illegible]	768	[illegible]	453
	Total	1000	955	861	6[illegible]6	5[illegible]
	Rural	1000	876	790	554	[illegible]
	Urban	1000	966	869	484	[illegible]63

This percentage is higher among pupils in urban schools as compared to rural schools. The table further reveals that about [illegible]% of the pupils joining class I complete the cycle, percentages in rural and urban schools being 37.5 and 59.1 respectively.

Percentage of Pupil-years Spent in Excess

Table 8.6 gives the pupil-years spent in excess along with their percentages with respect to total pupil-years invested in completing the cycle. The table reveals that the percentages of pupil-years spent in excess are higher for girls than for boys of SC and all communities. However, there does not seem to be any difference between the percentages for SC and all communities except in rural schools. This

TABLE 8.6

Pupil-years spent in Excess

Category	Item	Boys	Girls	Total	Rural	Urban
1	2	3	4	5	6	7
All	Optimum pupil-years to be invested	3075	2385	2775	1875	2955
	Total invested	4795	4461	4654	3760	4806
	Pupil-years spent in excess	1720	2076	[illegible]	[illegible]	1851
	%of pupil-years spent in excess	35.87	46.54	40.37	50.13	38.51
SC	Optimum pupil-years to be invested	2970	2290	2835	2650	2840
	Total invested	4649	4347	4581	4216	4627
	Pupil-years spent in excess	1679	2057	1746	1566	1787
	% of pupil-years spent in excess	36.12	47.32	38.11	37.14	38.62

percentage is the highest (50.13%) among total enrolment in schools located in rural areas.

Attribution of the Pupil-years Spent in Excess

Category	Item	Boys	Girls	Total	Rural	Urban
1	2	3	4	5	6	7
	Pupil-years spent in excess	1720	2076	1879	1885	1851
All	Attributable to repeaters who completed the cycle	428 (24.88)	337 (16.23)	385 (20.49)	266 (14.11)	412 (22.25)
	Attributable to dropouts	1292 (75.12)	1739 (83.77)	1494 (79.51)	1619 (85.89)	1439 (77.74)
	Pupil-years spent in excess	1679	2057	1746	1566	1787
SC	Attributable to repeaters who completed the cycle	339 (20.19)	324 (15.75)	343 (19.6[illegible])	304 (19.41)	343 (19.19)
	Attributable to dropouts	1340 (79.81)	1733 (84.25)	1403 (80.36)	1262 (80.59)	1444 (80.81)

Note: Figures within parentheses indicate percentages with respect to pupil-years spent in excess.

The percentage of excess pupil-years attributable to dropouts is consistently high for pupils of 'All' and SC categories in both rural and urban schools. It ranges from 75.12% for boys of all communities to 85.89% for total enrolment in rural schools.

Excess Pupil-years Attributable to Dropouts but effective

Category	Boys	Girls	Total	Rural	Urban
1	2	3	4	5	6
All	670 (51.86)	932 (53.59)	799 (53.48)	727 (44.90)	790 (54.90)
SC	760 (56.72)	914 (5[illegible].74)	781 (5[illegible].67)	630 (4[illegible].92)	815 (59.44)

Note: Figures within parentheses indicate percentages with respect to excess pupil-years attributable to dropouts.

By and large, about half of the excess pupil-years attributable to dropouts may not be considered as the total wastage because the dropouts beyond class I utilised at least one or more years effectively before discontinuing their studies.

Conclusions

Input/output ratios and overall dropout rates are higher for girls than for boys of SC and all communities. Further, in the case of total enrolment, these indicators are higher in rural schools than in urban ones.

Out of the pupils completing the cycle, more than half of them completed it without repeating any class and the remaining ones repeated at least one year.

The percentages of pupil-years spent in excess are higher for girls than for boys of SC and all communities. Again, the percentage of excess pupil-years attributable to dropouts is consistently high in rural and urban areas in the case of all students irrespective of their sex and caste.

WEST BENGAL

The state of West Bengal came into existance as a result of Indian Independence Act 1947. The state was divided into 16 districts with an area of 88752 sq. km. According to 1981 Census the population of the state was 5,45,80,647, of which 73.53% were living in rural areas. Its population ranking was 4th in the country, while otherwise it was ranked 12th in the country. The density of population per sq. km. was as high as 615. The ratio of females per 1000 males was 911.

The main occupation in the state is agriculture in which about 60% population is engaged. The state is a major producer of jute and tea, It has big as well as small industries The rural areas in the state are well connected with urban areas and among themselves by trains.

The state had a literacy rate of 40 [illegible] is higher than All India literacy rate of 36.23%. In case of male it was 50.67% while in case of females it was 30.25%. Although about 73% population lived in rural areas, literacy rate in rural areas was 33.12% as compared to 62.66% in urban areas.

The Fourth All-India Educational Survey had revealed that the state had a provision of primary schooling facilities to 85.07% rural population within the habitation. This facility was available to 96.28% population within a walking

distance of 1 km. In Fifth All India Education Survey facilities decreased to [illegible] rural popu[illegible] habitation and increased to 97.38% within a walking distance of 1 km. Although a majority of population had primary schooling facility within a walking distance of 1 km. only 67.60% of the children in the age group 6 to below were in schools.

Selection of Schools from rural areas

For this purpose the state was divided firstly into 3 divisions namely Jalpaigury, Presidency and Burdwan. Then to each division, number of circules to be selected were allocated using proportional allocation method. Thus 20 circules were allocated to Jalpaiguri, 20 to Presidency and 19 to Burdwan division. These circules were then selected from total circles in the division using probability proportional to size with replacement sampling scheme, size being the number of primary schools/sections in the circle. Then from each selected circle 12 schools using simple random sampling without replacement (SRSWOR) were selected. The number of circles and schools selected from each division is given below:

Division	No. of cicles selected			No. of schools selected
	Non-Tribal	Tribal	Total	
Jalpaiguri	16	4	20	240
Presidency	17	3	20	240
Burdwan	11	8	19	228
	44	15	59	708

Selection of schools from urban areas

In urban areas towns/cities were [illegible] first stage sampling unit. These were selected using probability proportional to size with replacement sampling scheme, size being the population of the city/town. As already discussed the state was divided into 5 categories of towns/cities after combining 5 and 6 category. The selection of schools in each selected town/city was done using simple random sampling procedure. The number of towns selected under each category and schools selected from them are as given below:

Category of Town	No. of towns selected	Schools selected
I	3	72
II	3	48
III	4	24
IV	[illegible]	28
V & VI	3	198

Schools covered under the study

After scrutiny of questionnaire and validation of data estimates of promotees, repeaters and drop outs were calculated

on the basis of schools given below.

Division/category of Town	Schools covered	
	Rural	Urban
Jalpaiguri	236	-
Presidency	238	-
Burdwan	226	-
Class I	-	60
Class II	-	40
Class III	-	22
Class IV	-	21
Class V and VI	-	37
Total	700	180

Promotees, Repeaters and Dropouts

Table 9.1, 9.2 and 9.3 give the promotee repeater and dropout rates for children belonging to all communities (All), scheduled caste and scheduled tribe separately for boys, girls and total (boys + girls) and also for rural and urban areas. These rates have been calculated on the basis of 700 schools covered in the study from rural areas and 180 schools from urban areas.

TABLE 9.1

Promotee, Repeater and Dropout Rate

STATE : WEST BENGAL CATEGORY: ALL

Sex/Area	Class	Promotee Rate	Repeater Rate	Dropout Rate
1	2	3	4	5
Boys	I	.3268	.5042	.1690
	II	.6972	.1684	.1344
	III	.6957	.1818	.1273
	IV		.1078	
Girls	I	.3035	.4276	.2689
	II	.7018	.1701	.1281
	III	.7127	.1784	.1089
	IV		.1058	
Total	I	.3176	.4741	.2083
	II	.6988	.1690	.1322
	III	.7021	.1806	.1173
	IV		.1072	
Rural	I	.3035	.5252	.1713
	II	.6782	.1840	.1378
	III	.6931	.1940	.1127
	IV		.1092	
Urban	I	.3578	.3249	.3173
	II	.7461	.1342	.1197
	III	.7206	.1525	.1269
	IV		.1033	

TABLE 9.2

Promotee, Repeater and Dropout Rates

STATE: WEST BENGAL CATEGORY: S.C.

Sex/Area	Class	Promotee Rate	Repeater Rate	Dropout Rate
1	2	3	4	5
Boys	I	.3255	.4721	.2024
	II	.6504	.1866	.1630
	III	.6747	.1796	.1457
	IV	-	.10[illegible]1	-
Girls	I	.3331	.4850	.1819
	II	.6284	.2070	.1646
	III	.5963	.1881	.2046
	IV	-	.1364	-
Total	I	.3281	.4766	.1953
	II	.6423	.1929	.1648
	III	.6481	.1861	.1658
	IV	-	.1[illegible]93	-
Rural	I	.[illegible]5	.[illegible]91	.2124
	II	.6340	.1996	.1664
	III	.6370	.1837	.1793
	IV	-	.1184	-
Urban	I	.4734	.4137	.1129
	II	.6714	.1664	.1622
	III	.6837	.1922	.1241
	IV	-	.1213	-

TABLE 9.3

Promotee, Repeater and Dropout Rates

STATE: WEST BENGAL   **CATEGORY : S.T.**

Sex/Area	Class	Promotee Rate	Repeater Rate	Dropout Rate
1	2	3	4	5
	I	.3059	.4381	.2560
	II	.5094	.2125	.2781
Boys	III	.5555	.2146	.2298
	IV	–	.1216	–
	I	.2441	.5132	.2427
	II	.4342	.2857	.2801
Girls	III	.6363	.2751	.0886
	IV	–	.1575	–
	I	.2983	.4596	.2521
	II	.4893	.2315	.2791
Total	III	.5754	.2296	.1950
	IV	–	.1304	–
	I	.2568	.4976	.2456
	II	.4317	.2670	.3013
Rural	III	.4872	.2771	.2357
	IV	–	.1731	–
	I	.4923	.2010	.3062
	II	.6903	.1076	.2021
Urban	III	.7370	.1413	.1217
	IV	–	.0832	–

These tables reveal that the promotees rate increases between class I and class [illegible] and then it [illegible] in class IV. This is true for boys as well as girls in case of all the categories. It is interesting to note that in class IV promotees rate of SC students are higher than that of students belonging to all communities for boys as well as girls. Also ST students promotee rate in class IV is higher than that of 'All' and SC in all the categories except in urban areas.

The repeater rate is maximum in class I and the minimum in class IV, among all the categories of boys and girls as well as in rural and urban areas. Also it is higher in all classes in schools of rural areas as compared to corresponding classes in urban schools.

The drop out rate is again found to be maximum in class I amongst pupils of 'All' communities and SC communities the only exception is urban areas. While in case of ST the drop out rate is maximum in class II the only exception is urban areas. Comparing rural and urban areas we find that drop out rate in class I is more in urban areas as compared to rural areas amongst 'All' and ST pupils while in case of SC pupils it is reverse. Although promotee rates for different classes of boys and girls do not differ appreciably in any category
and urban areas. Table 9.4 shows that more boys have been promoted
and also between/than girls as compared to in all the classes amongst pupils of All and ST communities. In case of SC pupils more girls have been promoted as compared to boys in

in class I and class III, but in class IV again boys surpasses girls. Comparing rural and urban areas, we find that more pupils being promoted in rural areas in case of 'All' while the case is reversed for SC and ST pupils.

TABLE 9.4

Promotee Profile

Category	Sex/ Area	Classes			
		I	II	III	IV
All	Boys	1000	617	508	421
	Girls	1000	514	427	364
	Total	1000	574	474	397
	Rural	1000	591	478	403
	Urban	1000	525	449	378
SC	Boys	1000	587	459	370
	Girls	1000	611	472	342
	Total	10[illegible]	596	461	362
	Rural	1000	551	426	325
	Urban	1000	784	623	518
ST	Boys	1000.	525	333	230
	Girls	1000	466	271	227
	Total	1000	509	316	229
	Rural	1000	481	273	175
	Urban	1000	616	476	408

From the rates calculated above flow charts have been prepared to show class to class movement of which are given in the appendix. With the help of these

flow charts different indicies of wastage and stagnation have been calculated which will be discussed below.

Input/Output Ratios and Overall Dropout Rates

These two indicies together give the idea of wastage of resources in education. Input/Output ratio give the extent of resource over-employed in an educational system than the minimal required. While overall dropout rates give the percentage of pupils who have completed the cycle in relation to those who enter the class I.

Sex/Area	Input/Output ratio			Overall dropout rate(%)		
	All	SC	ST	All	SC	ST
Boys	2.19	2.34	3.30	57.9	63.0	77.0
Girls	2.42	2.60	3.71	63.6	65.8	77.3
Total	2.40	2.42	3.35	60.3	63.8	77.1
Rural	2.28	2.61	4.38	59.7	67.5	82.5
Urban	1.99.	1.89	[illegible]	62.2	[illegible]	59.4

From this table we infer that the wastage of resources is maximum in case of rural ST children, where 338% more resources have been invested on the other hand the number of pupils who have completed the cycle were only 17.5%. This table also reveals that more resources have been wasted in case of girls as compared to boys amongst all the categories of students. Also more resources have been invested

than minimum required for [illegible] output in rural areas as compared to urban areas and [illegible] all the categories of students.

The overall dropout rate is maximum in case of rural ST children where 82.5% children dropout before completing the cycle. Again comparing boys and girls we find that dropout rates are higher among girls as compared to boys in all the categories. The rural and urban comparison shows that dropouts are more in rural areas as compared to urban areas in SC and ST communities. While in case of 'All' dropouts are more in urban areas.

Percentage Output by Number of Repeating Years

This indicator give the distribution of the percentage of students who have completed the cycle in one or more than one attempt.

Category	Years repeated	Percentage Output				
		Boys	Girls	Total	Rural	Urban
All	0	33.73	[illegible]	35.0	[illegible]	[illegible].16
	1	32.30	32.59	32.49	32.01	30.15
	2	20.67	19.23	20.40	22.08	21.32
	3	13.30	10.71	12.09	14.39	6.37
SC	0	34.32	31.29	33.43	32.31	36.87
	1	32.43	32.75	32.32	32.62	32.82
	2	20.81	21.64	20.[illegible]	21.54	19.50
	3	12.43	14.32	13.26	13.54	10.81
ST	0	33.04	25.11	30.84	25.14	56.40
	1	33.04	31.28	32.16	31.43	30.30
	2	20.08	24.67	22.03	24.57	10.10
	3	13.04	18.94	14.97	18.86	3.20

The above table reveals that about one-third pupils completed the cycle in the first attempt amongst all categories of students and about another one-third completed it after repeating for a year. While the rest completed repeating it either for 2 years or for 3 years. We also find that more pupil complete the cycle in the first attempt in urban areas as compared to rural areas in all the categories.

Percentage of Pupil-Years Spent in Excess

This table gives the total number of years invested as well as optimum years required to be invested and then the percentage of pupil years spent in excess, taken in completing the cycle. This have been calculated on the assumption that the output of the system has not required repetition.

CO TD...../-

Category		Boys	[illegible]	[illegible]	Rural	Urban
	Optimum pupil/years to be invested	1684	1455	1598	1612	1512
	Total invested	3626	3517	3810	3679	3013
All	Pupil-years spent in excess	2002	2061	2222	2067	1501
	%of pupil-years spent in excess	54.31	58.60	58.32	56.18	49.82
	Optimum pupil/years to be invested	1480	1368	1448	1300	2072
	Total invested	3467	3550	3497	3392	3924
SC	Pupil-years spent in excess	1987	2180	2049	2092	1852
	%of pupil-years spent in excess	57.31	61.46	58.59	61.67	47.20
	Optimum pupil/years to be invested	920	908	916	700	1624
	Total invested	3038	3371	3071	3066	2935
ST	Pupil-years spent in excess	2118	2463	2165	2366	1311
	%of pupil-years spent in excess	69.72	73.06	70.17	77.17	44.67

This table reveals that percentage of pupil-years spent in excess is less in case of 'All' as compared to SC and ST. The higher percentage of pupil-years have been spent in case of rural areas as compared to urban areas among 'All'

category pupils. Comparing urban areas among 'All', SC and ST categories we find that the [illegible] of pupil [illegible] in excess is more in case of 'All' (49.82) as compared to SC (47.20) and ST (44.67).

Attribution of Pupil-Years spent in Excess

The pupil-years spent in excess can be attributed either to (i) to repeaters who have completed the cycle after repeatition (ii) or due to dropouts. In this table the years attributed to these two categories have been discussed.

Category		Boys	Girls	Total	Rural	Urban
All	Pupil-years spent in excess	2002	2061	2222	2067	1501
	Attributable to repeaters who have completed the cycle	478	376	435	481	375
	Dropouts	1524	1685	1787	1586	1126
SC	Pupil-years spent in excess	1987	2180	[illegible]	2092	1852
	Attributable to repeaters who have completed the cycle	412	407	413	378	540
	Drop-outs	1575	1773	1636	1714	1312
ST	Pupil-years spent in excess	2118	2463	2155	2366	1311
	Attributable to repeaters who have completed the cycle	262	454	275	240	244
	Drop-outs	1856	2009	1880	2126	1067

This table reveals [illegible] pupil-years have been spent on dropouts on SC and ST [illegible] comparison [illegible] from 'All'. It also reveals that more pupil-years on dropouts are spent in rural areas in comparison to urban areas. Also more years on girl's dropouts have been spent in comparison to boys dropouts in case of all categories of pupils.

Excess Pupil-years attributable to Dropouts But Effective

The dropouts can be classified into two categories:

I Those dropouts who have left schools even before completing [illegible] year of study.

II Those who have discontinued their studies after passing atleast class I. The table given below gives the pupil-years attributed to those dropouts who have passed atleast class I.

Category	Boys	Girls	Total	Rural	Urban
All	862 (56.56)	[illegible] (50.39)	857 ( )	860 (54.22)	840 (74.60)
SC	936 (59.43)	1057 (59.62)	974 (59.54)	1002 (58.46)	853 (65.02)
ST	1168 (62.93)	1056 (5[illegible].56)	1136 (60.53)	12[illegible]9 (57.91)	874 (81.91)

The above table reveals that more than 50% of the excess years attributable to dropouts have been effective. This percentage is more in case of urban areas as compared to rural areas. It also reveals that excess pupil-years attribu-

table to dropouts but effective are not different in case of 'All', SC or ST.

Conclusion

The state has a high dropout rate amongst pupils of all categories with more than 57.9% children dropping out of schools before completing primary stage. It is as high as 82.5% amongst ST rural children. It is also noted that girls dropouts are higher than boys amongst all categories of children. Also dropout is higher in urban areas amongst 'All' while in case of SC and ST pupils it is higher in rural areas.

The state has a high stagnation with only 1/3rd of pupil completing the cycle in first attempt. The internal efficiency of the system is quite low. The low internal efficiency with high dropouts and stagnation result into high amount of wastage.

APPENDIX-I

STUDY ON STAGNATION AND DROP-OUTS AT PRIMARY STAGE

Instructions for filling the Proforma

Please read the following instructions carefully before filling the profoma:-

Use ball- point pen for filling the proforma.

Numerical information sought in the proforma is to be supplied in International Numerals, eg. 1, 2, 3, 4 etc.

Item 7: (i) The schools run by State or Central Government, Public Undertakings, and Autonomous Organizations completely financed by the Government will be treated as government schools.

(ii) The Schools run by municipal corporations, municipal committes, notified area committees, Zila Parishads, Panchayat Samities, etc. will be treated as local body schools.

A tick mark (✓) is to be put within brackets against the answer choice applicable to your schools in items 7 & 9.

Item 9: (i) A school is 'School for Boys' if boys are admitted to all classes and admission of girls is restricted to some specific classes only.

ii) A school is 'School for Girls' [illegible] are admitted to all classes but admission of boys is restricted to some specific classes only.

(iii) A school is 'Co-educational' if both boys and girls are admitted to all classes in the school.

Item 11: (i) New Entrants -: Those pupils who were not studying in recognised schools of the State in the previous year will be treated as new entrants. Students seeking admission with Transfer Certificate from a recognised school of your state are not to be treated as new entrants.

(ii) Promotees-Those pupils who passed/promoted from the previous class from any recognised school of the state will be treated as promotees.

(iii) Repeaters-Those who have failed/retained in the same class from any recognised school of the state will be treated as repeaters.

Study on Stagnation and Drop-outs at Primary Stage

1. State ... ...
2. District ... ...
3. Block/Tahsil ... ...
4. Village/Town ... ...
5. Population of the Village/Town according to 1981 Census.

Category	Total Population
All Communities	
Scheduled Castes	
Scheduled Tribes	

6. Name of the School ... ...
7. (a) School management :

   (i) Government ( )

   (ii) Local body ( )

   (iii) Private aided ( )

   (iv) Private unaided ( )

8. Classes taught in the school :

   From class ... ... to class ... ...

9. Type of School :

   (i) Boys ( )

   (ii) Girls ( )

   (iii) Co-educational ( )

10. Give information about incentive schemes for students of Primary classes in your school

Incentive Scheme	Whether School has the scheme Yes/No	If yes in col.2, year in which introduced
1	2	3
1. Free Uniforms		
2. Free Text-books		
3. Mid-day-Meals		
4. Attendance Scholarship for girls		

11. Furnish the following information regarding enrolment of pupils for the last three years as on 30th September.

All Communities/Scheduled Castes/Scheduled Tribes

Class	Category	1979-80		1980-81		1981-82	
		Total	Girls	Total	Girls	Total	Girls
1	2	3	4	5	6	7	8
I	New Entrants						
	Repeaters						
	Total						
II	New Entrants						
	Promotees						
	Repeaters						
	Total						
III	New Entrants						
	Promotees						
	Repeaters						
	Total						
IV	New Entrants						
	Promotees						
	Repeaters						
	Total						
V	New Entrants						
	Promotees						
	Repeaters						
	Total						

12. Furnish the classwise information on number of students who appeared and promoted, for the last three years.

Pupils of All Commitees/Scheduled Castes/ Scheduled Tribes

Class		1979-80		1980-81		1981-82	
		Appeared	Promoted	Appeared	Promoted	Appeared	Promoted
I	Total						
	Girls						
II	Total						
	Girls						
III	Total						
	Girls						
IV	Total						
	Girls						
V	Total						
	Girls						

Duration in years
I 1526
II 953
III 673
493
Total 4025
Output
Input/output
1979-80
1980-81
1981-82
1982-83
Evolution of the cohort

12. Furnish the classwise information on number of students who appeared and promoted, for the last three years.

Pupils of All Commitees/Scheduled Castes/ Scheduled Tribes

Class		1979-80		1980-81		1981-82	
		Appeared	Promoted	Appeared	Promoted	Appeared	Promoted
I	Total						
	Girls						
II	Total						
	Girls						
III	Total						
	Girls						
IV	Total						
	Girls						
V	Total						
	Girls						

APPENDIX 3: FLOW DIAGRAM OF PUPILS OF CLASSES I-IV IN ASSAM

APPENDIX 5: FLOW DIAGRAM OF PUPILS OF CLASSES I-V IN JA[illegible] & KASHMIR.

Year	I	II	III	IV	V
1979-80	1000				
1980-81	48	589			
1981-82	2	84	386		
1982-83	0	9	94	324	
		1	15	111	266
			3	24	114
				4	30
					6

Flows shown on the diagram:
- Class I 1000 (1979-80): dropout 363; repeaters 48; promoted 589
- Class I 48: dropout 18; repeaters 2; promoted 28
- Class I 2: dropout 1; repeaters 0; promoted 1
- Class I 0: dropout 0; promoted 0
- Class II 589: dropout 147; repeaters 56; promoted 386
- Class II 84: dropout 21; repeaters 6; promoted 55
- Class II 9: dropout 2; repeaters 1; promoted 6
- Class II 1: dropout 0; promoted 1
- Class III 386: dropout 23; repeaters 39; promoted 324
- Class III 94: dropout 6; repeaters 9; promoted 79
- Class III 15: dropout 0; repeaters 2; promoted 13
- Class III 3: dropout 1; promoted 2
- Class IV 324: dropout 26; repeaters 32; promoted 26
- Class IV 111: repeaters 11; promoted 91
- Class IV 24: dropout 2; repeaters 2; promoted 20
- Class IV 4: dropout 1; promoted 3
- Class V 266: repeaters 23; output 243
- Class V 114: repeaters 10; output 104
- Class V 30: repeaters 3; output 21
- Class V 6: output 6

Duration in years

I	1050
II	683
III	480
IV	463
V	416
Total	3092
Output	380
Input/Output	1.63

Evolution of the cohort

1000 → 618 → 448 → 418 → 330

Dropouts: 382, 170, 30, 33

APPENDIX 6: FLOW DIAGRAM OF PUPILS OF CLASSES I-V IN MADHYA PRADESH

Year	I	II	III	IV	V
1979-80	1000				
1980-81	1[illegible]	626			
1981-82	35	196	445		
1982-83	7	46	237	286	
		10	85	202	198
			26	89	165
				32	84
					33

Class I: 1000 (dropout 184); repeaters 188 → 1[illegible] (dropout 35); 3[illegible] → 35 (dropout 6); 7 → 7 (dropout [illegible]); promoted 628, 118, 22, 4.

Class II: 626 (dropout 105); 78 → 196 (dropout 33); 24 → 46 (dropout 7); 6 → 10 (dropout 3); promoted 445, 139, 33, 7.

Class III: 445 (dropout 61); 98 → 237 (dropout 32); 52 → 85 (dropout 11); 19 → 26 (dropout 9); promoted 286, 153, 55, 17.

Class IV: 286 (dropout 3[illegible]); 49 → 202 (dropout 29); 34 → 89 (dropout 12); 15 → 32 (dropout 10); promoted 19, 139, 62, 22.

Class V: 198 → 172; 26 → 165 → 143; 22 → 84 → 73; 11 → 33 → 33.

Duration in years

Class	Years
I	1230
II	880
III	793
IV	609
V	480
Total	3992
Output	421
Input/Output	1.90

Evolution of the cohort

1000 → 772 → 634 → 511 → 421

Dropouts: 228, 148, 113, 90

APPENDIX 7: FLOW DIAGRAM OF PUPILS OF CLASSES I-V IN ORISSA

Duration in years

I	1063
II	914
III	878
IV	767
V	663
Total	4285
Output	649
Input/Output	1.32

APPENDIX 8: FLOW DIAGRAM OF PUPILS OF CLASSES III–V IN RAJASTHAN

Duration in years

III	1024
IV	919
V	777
Total	2720
Output	746
Input/Output	1.32

Evolution of the cohort

APPENDIX 9: FLOW DIAGRAM OF PUPILS OF CLASSES I-V IN UTTAR PRADESH
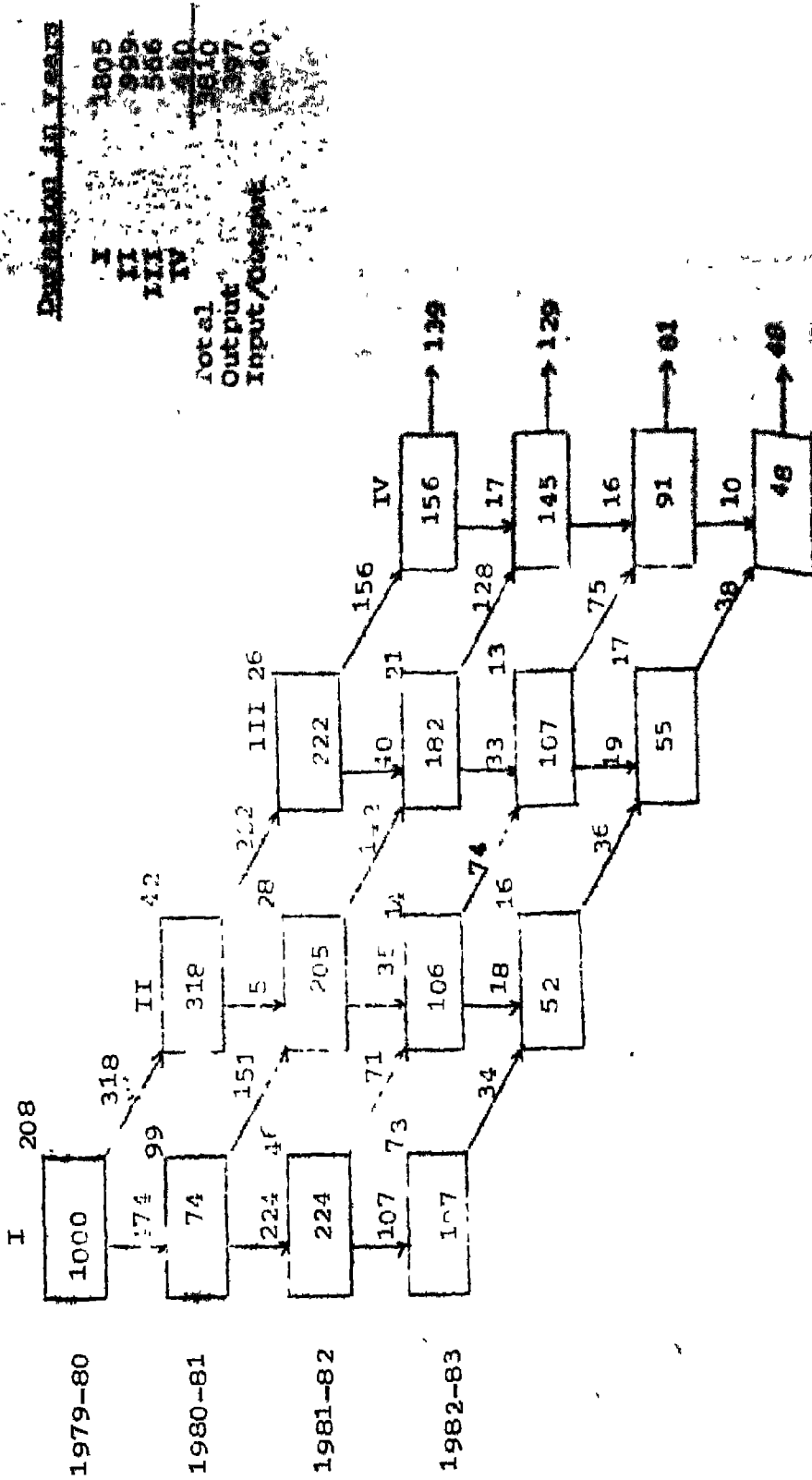
Duration in years

I	1225
II	1104
III	990
IV	763
V	572
Total	4654
Output	555
Input/Output	1.68

MADHYA PRADESH

Sh. Uma Shanke. Chaturvedi
Asstt. Director
Directorate of Public Instruction
Madhya Pradesh, Bhopal.

ORISSA

Dr. S.K. Torasia Dy. Director (Planning), Directorate of Higher Education Orissa, Bhubaneswar.	Upto September, 83
Sh. S.K. Mohanty, Dy. Director (Planning), Directorate of Higher Education, Orissa, Bhubaneswar.	From October, 83

RAJASTHAN

Sh. Shiv Ratan Thanwi,
Dy. Director (Social and Elementary Education)
Directorate of Primary and Secondary Education,
Rajasthan, Bikaner.

UTTAR PRADESH

Sh. B.D. Pathak, Joint Director (Non-formal) Directorate of Education, U.P., Allahabad.	Upto October, 84
Sh. S.C. Tiwari, Dy. Director (Primary), Directorate of Education, U.P. Allahabad.	From November, 84

WEST BENGAL

Sh. Alok Kumar Banerjee,
Asstt. Director (Statistics),
Directorate of Education, W.B.,
(Planning & Statistics Section)
6, Council House Street,
Calcutta-1.